ISSN : 2278:0912

❖ ओ३म् ❖

आर्ष-ज्योतिः

श्रीमद् दयानन्द वेदार्ष-महाविद्यालय-न्यास

का

द्विभाषीय मासिक मुखपत्र

मार्गशीर्ष–पौषमास, विक्रम संवत् – २०७१

वर्ष : ७ अंक ८१–८२ नवम्बर–दिसम्बर २०१४ मूल्य : ५.०० रुपये

ज्योतिष्कृणोति सूनरी

संरक्षक - संस्थापक
स्वामी प्रणवानन्द सरस्वती

❖

मुख्य सम्पादक
डॉ. धनञ्जय आर्य (अवैतनिक)

❖

सम्पादक
चन्द्रभूषण आर्य
रवीन्द्र आर्य

❖

कार्यकारी सम्पादक
ब्र. शिवदेव आर्य

❖

व्यवस्थापक
ब्र. अनुदीप आर्य
ब्र. कैलाश आर्य

❖

कार्यालय
श्रीमद्दयानन्द आर्ष ज्योतिर्मठ गुरुकुल
दून वाटिका-२, पौंधा, देहरादून (उत्तराखण्ड)
दूरभाष - ०१३५-२१०२४५१
जंगमवाणी - ०९४११११०६१०४
ई-मेल : arsh.jyoti@yahoo.in
website: www.pranawanand.org

❖

सदस्यता शुल्क
आजीवन - १०००.०० रुपये
वार्षिक - ५०.०० रुपये
एक प्रति - ५ रुपये

विषय–क्रमणिका

विषय	पृष्ठ
सम्पादकीय	२
उपनिषदों का महत्त्व	३
मानव की आयु–विषयक सत्यविचार	१७
रामायण के विषय में कतिपय शंका–समाधान	३२
धर्म की आवश्यकता	३५
सुख व दु:ख जीवात्मा के ही गुण है	३८
बच्चों के निर्माण में उपेक्षा घातक है	४०
वैदिक मान्यताएँ और महर्षि दयानन्द	४२
पण्डित राजवीर शास्त्री और विशुद्ध मनुस्मृति	५९

नीमीतीरे सततसुखदे सर्वतो दर्शनीयम्,
पौन्धाग्रामे नगरनिनदाद् दूरमीक्ष्यं मनुष्यैः।
हैमे तुङ्गे शिखरिशिखरे शोभनोपत्यकायाम्,
आर्षज्योतिर्मठगुरुकुलं राजते संसृतौ मे।।

रवीन्द्रकुमारः

न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः

This document is created by GIRDAC PDF Creator Pro trial version
GIRDAC PDF Creator Pro full version does not add this green footer
Full version can be ordered from http://www.girdac.com/Products/Buy.htm

तर्पण

भारतवर्ष की अपनी एक अद्वितीय महत्त्वपूर्ण विशेषता रही है कि समय समय पर आयी हुई कुरीतियों, पाखण्ड़ों व अन्धविश्वासों को अपने वेद ज्ञान से नष्ट करने वाले सत्य तथा वेद के पथप्रदर्शक महापुरुषों का जन्म इस धरा पर होता रहा है। जो देश को जागरुक करने के लिए कृतसंकल्प रहते थे। दिन हो या रात, परिस्थिति अनुकूल हो या प्रतिकूल उन्हें कोई असर नहीं होता, जब वेदज्ञान से आप्लावित वेदज्ञ **न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः** को सदैव स्मरण करते हुए जब अपना मार्ग प्रशस्त करते हैं तो सम्पूर्ण भूमण्डल नतमस्तक हो जाता है।

वेद तथा ऋषिवर देव दयानन्द में अगाध श्रद्धा रखते हुए आचार्य पं. राजवीर शास्त्री जी ने अर्हर्निश अपनी लेखनी से अतुलनीय योगदान दिया है, वह अद्वितीय है। अपने प्रभाव से बुद्धिजीवियों को आर्यावर्त के प्राचीन गौरव से भारतीय अस्मिता पर गर्व करा दिया। इसको देखकर लगता है कि आर्य समाज तथा ऋषिवर देव दयानन्द को अनुपम सन्देश के ध्वजवाहकों की भूतकाल में न कोई कमी थी, न वर्तमान में है और न भविष्य में होगी।

वैदिक धर्म-दर्शन-संस्कृति-साहित्य के प्रकाण्ड पण्डित प्रसिद्ध वैयाकरण, सिद्धहस्त लेखक तथा विचारक आदरणीय पण्डित राजवीर शास्त्री जी का जन्म उत्तर प्रदेश के गाजियाबाद मण्डल के ग्राम फजलगढ़ में ४ अप्रैल १९३८ को एक आर्य परिवार में हुआ। प्रथम गुरु के रूप में माता मनसा देवी तथा द्वितीय गुरु के रूप में पिता शिवचरणदास ने इस खिलते हुए पुष्प को बहुत गति व मति प्रदान कराई।

आचार्य जी की प्रारम्भिक शिक्षा दीक्षा ग्रामीण विद्यालयों में ही सम्पन्न हुई। प्रारम्भिक शिक्षा पूर्ण करने के उपरान्त सन् १९४६ में वेद-विद्या के अध्ययनार्थ गुरुकुल बुकलाना मेरठ में प्रवेश पाया। कुछ समय पश्चात वेद विद्यालय गुरुकुल गौतम नगर नई दिल्ली में अध्ययनार्थ आये। आचार्य श्री के पिता जी भी इसी संस्था में सेवारती थे। आपकी कुशाग्रबुद्धि को देखकर कुछ समय पश्चात् वैदिक-धर्म-ध्वज-वाहक प्रसिद्ध ऐतिह्यविद् पूज्यपाद आचार्य भगवानदेव जी (स्वामी ओमानन्द सरस्वती) द्वारा संचालित गुरुकुल महाविद्यालय झज्जर में प्रविष्ट कराया गया। जहाँ आचार्य जी ने १९५४ तक पूर्ण मनोयोग से वेद-वेदांगों का गहन अध्ययन किया। शिक्षा अध्ययन के दौरान परीक्षा न देकर विद्वत्ता उपार्जन हेतु परम्परागत अध्ययन किया।

तदुपरान्त आपने समसामायिक परिस्थितियों तथा आवश्यकतार्थ पंजाब विश्वविद्यालय से विधिवत परीक्षा उत्तीर्ण करते हुए विशारद, शास्त्री तथा प्रभाकर की उपाधि प्राप्त की। इस प्रकार परम्परागत शास्त्राध्ययन तथा आधुनिक परीक्षा प्रणाली दोनों में परिपूर्ण होने पर आपने सन् १९५८ से १९६० तक गुरुकुल झज्जर में अध्यापन कार्य किया। १९६० से १९६७ तक पंजाब शिक्षा विभाग में संस्कृत अध्यापक के पद पर कार्यरत रहे। वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय से आचार्य तथा मेरठ विश्वविद्यालय (चौधरी चरण सिंह विश्वविद्यालय)से एम.ए. संस्कृत की परीक्षा उत्तीर्ण की।

आपने ग्राम बैरी, जिला झज्जर (हरियाणा) में शासकीय विद्यालय में अध्यापन कार्य करते हुए आर्ष ग्रन्थों के अध्यापन हेतु अतिरिक्त समय निकालकर आचार्य बलदेव, ब्र. इन्द्रदेव मेधार्थी (स्वा. इन्द्रवेश), स्वामी सत्यपति आदि को व्याकरण महाभाष्य आदि पढ़ाया। आप सन् १९६७ से दिल्ली प्रशासन में संस्कृत शिक्षण का कार्य करते हुए सन् १९९८ में सेवानिवृत्त हुए। आप व्याकरण शास्त्र के तलस्पर्शी विद्वान् श्री विश्वप्रिय जी के योग्यतम शिष्य रहे हैं। आपको अनेक संस्थाओं ने व्याकरणाध्यापनार्थ आमन्त्रित करके ज्ञानार्जन किया जिनमें कन्या गुरूकुल नरेला, गुरूकुल गौतमनगर, दिल्ली एवं गुरूकुल पौंधा, देहरादून मुख्य हैं। विद्या ग्रहण करने से मनुष्य को दूसरा जन्म मिलता है। जब

This document is created by GIRDAC PDF Creator Pro trial version
GIRDAC PDF Creator Pro full version does not add this green footer
Full version can be ordered from http://www.girdac.com/Products/Buy.htm

तक गुरु चरणों में बैठकर मनुष्य ज्ञान प्राप्त नहीं करता तब तक वह द्विजन्मा (अर्थात् द्विज) नहीं बनता, संस्कार-शून्य (शूद्र) ही बन सकता है। इसलिए गुरुकुल पौन्धा देहरादून में आचार्य श्री अपने जीवन के अन्तिम समय में कई बार ब्रह्मचारियों को उपनयन संस्कार की दीक्षा भी दी थी। उपनयन तथा वेदारम्भ संस्कार को दूसरे जन्म की दीक्षा का अवसर माना जाता है। उपनयन का अर्थ है विद्यार्थी का गुरु के समीप जाना और वेदारम्भ का अर्थ है वेद अथवा ज्ञान को ग्रहण करने की दीक्षा लेना। प्राचीन गुरुकुलों में ब्रह्मचारी जब गुरुकुल में जाता तो इन दोनों संस्कारों को करने के पश्चात् ही गुरु के सानिध्य में उसकी पढ़ाई प्रारम्भ होती थाी। यह पढ़ाई केवल पुस्तक-सम्बन्धी या शास्त्रीय ज्ञान तक ही सीमित नहीं रहती थी। परन्तु समस्त दिनचर्या और जीवन-व्यापी अचार-विचार को परिष्कृत करने से भी जुड़ी होती थी। आचार्य को आचार्य इसीलिये कहा जाता है क्योंकि वह अपने शिष्यों को आचारवान् बनाने की जिम्मेदारी मुख्य रूप से ग्रहण करता है, जो कि आचार्य श्री राजवीर शास्त्री जी ने बड़ी निष्ठा के साथ निभायी।

आचार्य श्री अपनी विद्वत्ता के लिए चतुर्दिक् विख्यात थे। आपकी निर्बाध लेखनी से अनेक ग्रन्थों का प्रणयन तथा सम्पादन हुआ, जिसमें योगदर्शनभाष्यम्, वैदिकशब्दकोष, उपनिषद् भाष्यम् तथा देव दयानन्द ने जिस मनुस्मृति का अपने अमर ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश में वर्णन किया है, ऐसी मनुस्मृति को प्रक्षिप्तों से रहित करते हुए आर्यभाषा में व्याख्या की इसके साथ अनेकशः ग्रन्थों का प्रणयन किया। तथा आर्य जगत् में सर्वत्र यशस्वी पत्रिका 'दयानन्द-संदेश' का सम्पादन किया, जिसमें सृष्टि संवत्, वैदिक मनोविज्ञान, मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम,योगेश्वर श्रीकृष्ण एवं सत्यार्थ-प्रकाश आदि विशेषाङ्क अति प्रशंसनीय एवं दर्शनीय हैं।

आचार्य श्री ने लगभग चार दशकों में दयानन्द-सन्देश के माध्यम से शंका-समाधान एवं लेखों के प्रत्युत्तर तथा आर्य जगत् की सुप्रसिद्ध संस्थाओं का मार्गदर्शन किया। आचार्य श्री की विद्वत्ता को देखते हुए अनेक संस्थाओं ने उन्हें सम्मानित किया है, जिसमें सन् २००० में प्रतिष्ठान संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा, सन् २००२ में आर्य समाज सान्ताक्रूज मुम्बई द्वारा एवं ओमानन्द स्मृति पुरस्कार तथा मानव सेवा प्रतिष्ठान दिल्ली आदि अनेक संस्थाओं द्वारा पुस्कृत तथा सम्मानित किया गया।

ऐसे आर्य समाज तथा देव दयानन्द के संदेश वाहक पिछले कई वर्षों से रोगग्रस्त होने के कारण २५ सितम्बर २०१४ को प्रातःकाल इस मोह रूपी संसार से अपना मोह दूर करते हुए पंचत्व को प्राप्त हो गये। जैसे ही हम सब गुरुकुलवासियों को इस दुःखद सूचना का संदेश मिला, सम्पूर्ण गुरुकुल परिवार शोकलिप्त हो गया। सूचना प्राप्त होते ही आचार्य डॉ. धनंजय जी अपने ब्रह्मचारियों को लेकर परिवार में पहुँचे । **'वायुरनिलममृतथेदं भस्मान्तं शरीरम्'** इस मन्त्र के साथ आचार्य श्री के शरीर को अग्नि ने भस्म कर दिया, क्योंकि शरीर तो पार्थिव अंश मात्र था। पंच-भौतिक शरीर के शेष चारों भूतों को अग्नि देव ने उनका सूक्ष्म अंश उन तक पहुंचा दिया। शरीर का जलीय अंश जल को, प्राण-वायु विश्व में स्थित महान् वायेुदव को, अवशिष्ट अंश आकाश को सौंप दिया। शेष उसमें जो अमृत-तत्त्व था वह था आत्मा, और उनका यशः शरीर, जो हम सबको सदा-सदा के लिए प्रेरणा देता रहेगा।

इस संसार में कोई यदि जाता है तो दुःख तो स्वभाविक है किन्तु ऐसा भी नहीं है कि संसार में जिसने जन्म लिया हो और उसकी मृत्यु न हुई हो, ये तो अवश्यम्भाावी है, इसे कोई कैसे टाल सकता है। इसलिए भर्तृहरि जी लिखते हैं कि- **'परिवर्तिनी संसारे मृतः को वा न जायते। स जातो येन जातेन याति वंशसम्मुन्नतिम्।** अर्थात् इस परिवर्तनशील संसार में जिसने जन्म लिया है उसका मरण तो निश्चित है लेकिन जन्म लेना उसी का सार्थक है, जो जन्म लेकर जन्म को सार्थक कर दे।

आचार्य श्री की स्मृति को स्मरण करते हुये कुछ लेखों को आर्ष-ज्योतिः सहृदय पाठकों की सेवा में प्रस्तुत करते हुए गुरुवर्य स्वर्गीय आचार्य पण्डित राजवीर शास्त्री जी का तपर्ण करने का यत्न मात्र कर रहें हैं।

- शिवदेव आर्य

This document is created by GIRDAC PDF Creator Pro trial version
GIRDAC PDF Creator Pro full version does not add this green footer
Full version can be ordered from http://www.girdac.com/Products/Buy.htm

उपनिषदों का महत्त्व

❑ स्वर्गीय पं. राजवीर शास्त्री......✍

मनुष्य सांसारिक दु:खों से सन्तप्त होकर सृष्टि के आदिकाल से परमशान्ति तथा शाश्वत सुख की खोज करता रहा है। सांसारिक भोगों के सुख क्षणिक तथा नश्वर होते हैं, उनमें शाश्वत-सुखों की आशा करना मरू-मरीचिकाओं में जल समझने के समान ही हैं। सांसारिक भोगों को भोगते-भोगते मानव समस्त जीवन बिता देता है, किन्तु परम सुख प्राप्त नहीं होता। महाराज भर्तृहरि ने ठीक ही कहा है कि-

''**भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः।।**'' (भर्तृहरि०)

अर्थात् भोग भोगे नहीं जा सकते, हमें ही भोग खा जाते हैं। अर्थात् जीवन समाप्त हो जाता है कि भोग-कामनाओं की तृप्ति नहीं होती। मनु जी के शब्दों में भोगों को भोगने से-

''**न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।**
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते।।'' (मनु०)

कभी भी वासनाओं की शांति नहीं होती, प्रत्युत कामनाओं की वैसी वृद्धि होती है, जैसे घृतादि से अग्नि प्रचण्ड हो जाती है। धन-धान्यादि से सम्पन्न देश इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि उन देशों में भौतिक सुखों की न्यूनता न होते हुए भी सुख व शान्ति कहाँ? उपनिषत्कार ने ठीक ही कहा है कि-

''**न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः**'' (कठो०२।२७)

अर्थात् मनुष्य सांसारिक धनों या पदार्थो से कभी तृप्त नहीं हो सकता। समस्त-वैदिक दर्शनों का भी यही लक्ष्य रहा है कि शाश्वत-सुख (मोक्ष)कैसे उपलब्ध हो सके। संसार की प्राचीनतम पुस्तक ईश्वरीय ज्ञान वेदों में मोक्ष-प्राप्ति या परम सुख का उपाय शुद्धान्तःकरण करके धर्मानुष्ठान करते हुए परब्रह्म का जानना ही है। वेद में कहा है-

''**तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय**'' (यजु०३१।१८)

'**यस्य छायाऽमृतं यस्य मृत्युः**' (यजु.)

अर्थात् परब्रह्म को जानकर ही मृत्यु-दु:खों से पार होकर मोक्ष को प्राप्त किया जा सकता है। इससे भिन्न और कोई उपाय नहीं है क्योंकि उस परब्रह्म का आश्रय (शरण) अमृत-मोक्ष सुखप्रद है और जिसकी अकृपा या उपासना न करना ही मृत्यु-दु:खोंका कारण है।उस परब्रह्म को जानने व प्राप्त करने के लिए ऋषि-मुनियों ने जीवन भर तपस्यारत होके जो ज्ञान (ब्रह्म-ज्ञान) प्राप्त किया है, उसी का संग्रह उनिषद् ग्रन्थों में है। इसलिए इन्हें ब्रह्म-ज्ञान की उत्कृष्टतम पुस्तकें भी माना जाता है।

'उपनिषद्' शब्द का यौगिकार्थ भी इसी बात की पुष्टि करता है। इस शब्द में 'उप' तथा 'नि' दो उपसर्ग तथा 'षद्लृ' धातु है। जिसका अर्थ यह है कि-'**उप सीमोप्येन नितरां सीदन्ति प्राप्नुवन्ति परं ब्रह्म यया विद्यया सा उपनिषद्।**'' अर्थात् उपनिषद् वह विद्या है, जिसके द्वारा परब्रह्म का ज्ञान होने से परब्रह्म के सामीप्य को प्राप्त किया जा सके। और उपनिषद्-परब्रह्म-ज्ञान का प्रतिपादन करने से 'ईशादि' ग्रन्थों का नाम भी उपनिषद् प्रसिद्ध हुआ। श्री शंङ्कराचार्य जी ने उपनिषद् की व्याख्या करते हुए लिखा है-'**सेयं ब्रह्मविद्या उपनिषद् वाच्या संसारस्यात्यन्तावसादनात् उपपूर्वस्य सदेस्तदर्थत्वात् ग्रन्थोऽप्युपनिषद् उच्यते।**'' (बृहदा० भूमिका) अर्थात् यह उपनिषद् नामक ब्रह्मविद्या संसार के अत्यन्त अवसादन-उच्छेद करने के लिए है। उपपूर्वक सद् धातु का ऐसा अर्थ होने से। किन्तु यह सत्य नहीं है। उपनिषद् से दु:खोच्छेद होता है, संसारोच्छेद नहीं। यह विद्या अत्यन्त गूढ़ होने से 'रहस्य' नाम से भी जानी जाती है। व्याकरण महाभाष्य में महर्षि पतञ्जलि ने उपनिषद को 'रहस्य' नाम देकर लिखा है-

'**चत्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्या बहुधा भिन्नाः०।**''

This document is created by GIRDAC PDF Creator Pro trial version
GIRDAC PDF Creator Pro full version does not add this green footer
Full version can be ordered from http://www.girdac.com/Products/Buy.htm

(महा० परस्पशा०)

महर्षि पाणिनि ने **'जीविकोपनिषदावौपम्ये'** (अ०१।४।६९) सूत्र में 'उपनिषद्' शब्द का 'छिपाने अर्थ' प्रयोग किया है। **उपनिषत्कृत्य गतः**। अर्थात् किसी बात को छिपाकर अथवा 'रहस्यात्मक' बनाकर चला गया। इससे भी उपनिषद् विद्या का रहस्यात्मक स्वरूप ही प्रकट होता है। कठोपनिषद में नचिकेता के तीसरे वरदान के रूप में आत्म विद्या के पूछने पर यमाचार्य ने उसको अनेक प्रकार के प्रलोभन दिए और अन्त में उसको योग्यतम विद्याधिकारी समझकर आत्मविद्या का उपदेश करते हुए इस विद्या के विषय में कहा था–

आश्चर्योऽस्य वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः।। (कठो० २।७)

अर्थात् इस विद्या का उपदेष्टा तथा श्रोता दोनों ही विरले होते हैं। कोई आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करने वाला ही इस विद्या का उपदेश कर सकता है। दूसरे पुरूषों की इसमें गति ही नहीं होती। और "**नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः**" के अनुसार आत्मज्ञान परमेश्वर की कृपा से ही प्राप्त होता है।

भारतीय तत्त्वदर्शी परमात्म-द्रष्टा ऋषि-मुनियों ने इस रहस्यात्मक विद्या का पूर्णरूप से ज्ञान करके विश्व को सर्वप्रथम उपदेश दिया था। इसलिए भारत देश को विश्व के दार्शनिक आज भी आध्यात्मिक क्षेत्र में विश्व का गुरू मानते हैं। इस उपनिषद्-विद्या से वैदिक धर्मी ही नहीं, प्रत्युत अनेक विधर्मी व विदेशी भी इन्हें पढ़कर मन्त्रमुग्ध से रह गए हैं। इस्लामधर्मावलम्बी दाराशिकोह, मंसूर, सर्मद, फैजी तथा बुल्लाशाह की उपनिषद् भक्ति से कौन भारतीय परिचित नहीं है? दाराशिकोह ने औपनिषद्-सिद्धान्तों को स्वीकार ही नहीं किया, प्रत्युत फारसी भाषा में इसका अनुवाद भी किया और उन सिद्धान्तों को अपने जीवन का सर्वस्व भी बनाया। मंसूर और सर्मद ने तो सिर देकर भी उपनिषद्-सिद्धान्तों को नहीं छोड़ना चाहा। पाश्चात्य विद्वान् मैक्समूलर, शोपेनहर और गोल्डस्टकर आदि ने उपनिषदों की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा ही है।

विदेशी विद्वानों के विचार–

१–"उपनिषद् वेदान्तदर्शन के आदिस्रोत हैं और ये ऐसे निबन्ध हैं जिनमें मुझे मानवी भावना अपने उच्चतम शिखर पर पहुँच गई मालूम होती है। (मैक्समूलर)

२–" सारे संसार में ऐसा कोई स्वाध्याय नहीं है जो उपनिषदों के समान उपयोगी और उन्नति की और ले जाने वाला हो। वे उच्चतम बुद्धि की उपज हैं। उपनिषद् मेरे जीवन रूपी सरोवर में अमृत सींचने वाले हैं। आगे या पीछे एक दिन ऐसा होना ही है कि यही जनता का धर्म होगा।" (शौपेनहार दार्शनिक)

३–"वेदान्त सबसे ऊँचे दर्जे का मन्त्र है जिसे पूर्वीय विचारधारा ने प्रवृत्त किया है।" (डॉ० गोल्डस्टकर)

४–"संसार में सुकरात, अरस्तु, अफलातून आदि सैकड़ों धुरन्धर विद्वान् हो चुके हैं, परन्तु सबसे अधिक विद्वान् वे थे, जिन्होंने उपनिषदों की रचना की। इनसे बढ़कर न कोई विद्वान् हुआ है और न भविष्य में कोई होगा।"

(मिस्टर होम)

५–"उपनिषदों का ज्ञान प्रत्येक निराशावादी के हृदय के लिए अति सन्तोषजनक और शान्ति-उत्पादक होता है। ये परमात्मा की प्राप्ति के लिए ऐसे ही हैं जैसे प्रातः कालीन वाटिका का भ्रमण मन को आल्हादित करता है। अञ्जील में तो खुदा मनुष्यों की खोज में है,परन्तु उपनिषदों में मनुष्य परमात्मा की खोज में फिरता है।" (पादरी मर्डक)

६–"जिन समस्याओं को रोमन, ग्रीक सुलझा न सके, जिन प्रश्नों ने मध्यकालीन और आधुनिक विज्ञान-वेत्ताओं को परेशान कर रक्खा है, उन सबका उत्तम और समुचित और दर्शनों (उपनिषदों) में विद्यमान है।"

(सर डब्ल्यू० हण्टर)

७–सन् १७७५ में एंक्वेटिल डूपारन को दाराशिकोह द्वारा अनूदित फारसी की पाण्डुलिपि देखने को मिली। उसने फारसी का अनुवाद फ्रेंच तथा लैटिन भाषा में किया। उसमें डूपारन महोदय लिखते हैं–

This document is created by GIRDAC PDF Creator Pro trial version
GIRDAC PDF Creator Pro full version does not add this green footer
Full version can be ordered from http://www.girdac.com/Products/Buy.htm

''यह उपनिषद् योगविद्या और ब्रह्मज्ञान के भण्डार हैं। जैसे-जैसे मनुष्य इनका स्वाध्याय करता है, मनुष्य का हृदय शान्त हो जाता है। उसकी विचार शक्ति बढ़ती है,मन की विकलता घटती है और विचारों में उत्तेजना तथा मन में आनन्द प्रतीत होता है।''

८-''उपनिषद् ग्रन्थ अनमोल रत्न हैं, जो मनुष्य जाति के लिए धार्मिक स्फूर्ति एवं बल तथा आटिमक जीवन के लिए सब से अधिक पवित्र एवं उपजाऊ पदार्थ और उत्तम समूह हैं।'' (रेवरेण्ड ए० आयंस गेडन)

इस प्रकार उपनिषदों का महत्त्व विदेशी, स्वदेशी तथा अन्य मतावलम्बियों में कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। यथार्थ में ब्रह्मविद्या का अमृत जिसने भी थोड़ा सा चखा,वह इसे फिर नहीं छोड़ सका। इस विद्या के मर्मज्ञ को जो आनन्द प्राप्त होता है, वह उसे वाणी से वर्णन नहीं कर सकता। उपनिषत्कार स्वयं कहते हैं-''**न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तदन्तः करणेन गृह्यते।**''

भारतीय विद्वानों के उपनिषदों के सम्बन्ध में विचार

१-''उस महान् प्रभु परमात्मा की पूंजी केवल उपनिषदों में ही सम्पूर्णतया और विस्तारपूर्वक लिखी है जो कि वेद और वेदान्त का एक विशेष भाग हैं।'' (राजाराम मोहनराय)

२-''वेद तो सम्पूर्ण विद्याओं और कलाओं के भण्डार हैं, जो परमात्मा ने मनुष्यों को दान दे रक्खे हैं। परन्तु उपनिषद् ईश्वर के एकत्व और अध्यात्मिकविद्या का उपदेश करते हैं, जो सम्पूर्ण वर्त्तमान विज्ञान और पदार्थ विद्या की भी माता है। इसके सिद्धान्त आत्मा को अत्यन्त शान्तिदायक हैं।'' (पं ईश्वरचन्द्र विद्यासागर)

३-''चक्षु-सम्पन्न व्यक्ति देखेंगे कि भारत का ब्रह्मज्ञान समस्त पृथिवी का धर्म बनने लगा है'' (विश्वकवि डॉ० रवीन्द्रनाथ ठाकुर)

४-''उपनिषदों का प्रत्येक पृष्ठ मुझे शक्ति का सन्देश देता है....उपनिषद् कहते हैं-हे मानव! तेजस्वी बनो, वीर्यवान् बनो, दुर्बलता को त्यागो।.....उपनिषद् शक्ति की विशाल खान हैं।....मुक्ति अथवा स्वाधीनता-दैहिक स्वाधीनता, मानसिक, स्वाधीनता, आध्यात्मिक स्वाधीनता, यही उपनिषदों के मूल मन्त्र हैं।'' (स्वामी विवेकानन्द)

उपनिषदों का अमर सन्देश

१-**उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत।**
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति।। (कठो० ३।१४)

अर्थात् अपने चरम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त करने के लिए मनुष्यों! उठो, जागो और अपने से श्रेष्ठ (विद्वान् व योगी) पुरूषों के पास जाकर ब्रह्मज्ञान को सीखों। यह ब्रह्म-ज्ञान का मार्ग तेज उस्तरे की धार के समान अत्यन्त दुर्गम है। ऐसा परमात्मा के साक्षात्कार करने वाले उपदेश करते हैं।

२-**कुर्वन्नेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।।** (ईशावास्योप०) हे मनुष्यों! जीवन भर श्रेष्ठ कर्मों को करते हुए ही जीने की इच्छा करो।

३- **तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।।** (ईशावा०) अनासक्ति भाव से संसार के भागों को भोगों और किसी के धन या वस्तुओं की इच्छा मत करो।

४-**न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः।।** (कठो०१।२७)
मनुष्य की धन से कभी तृप्ति नहीं हो सकती।

५-**नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।**
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्।।
(कठो०२।२४)

परमात्मा की प्राप्ति केवल बाह्य प्रदर्शन भजन कीर्तन से तब तक कदापि नहीं हो सकती, जब तक पाप-कर्मो से लगा हुआ है, अशान्त-इन्द्रियों के विषय में फंसा हुआ है। असमाहित-विक्षिप्त चित्त वाला है और अशान्तमन-जिसका मन तृष्णा में फंसा हुआ है। चाहे कितना ही विद्वान् हो जाए, उसे उपर्युक्त दुष्कर्म छोड़ने पर ही परमात्माज्ञान हो सकता है।

This document is created by GIRDAC PDF Creator Pro trial version
GIRDAC PDF Creator Pro full version does not add this green footer
Full version can be ordered from http://www.girdac.com/Products/Buy.htm

६-**भस्मान्तं शरीरम्।।** (ईशावास्यो०)
शरीर का अन्तिम संस्कार भस्मात्-दाह क्रिया ही है। तत्पश्चात् मृतक के लिए कोई मृतकश्राद्ध या संस्कार शेष नहीं रहता।

७-**ओ३म् क्रतो स्मर।।** (ईशावास्यो०)
ओ३म् परमात्मा का मुख्य नाम है। हे क्रतो-कर्मशील जीव! तू ओ३म् का ही स्मरण किया कर।

८-**स पर्यगाच्छुक्रम् अकायम्।।** (ईशावास्यो०)
वह परमात्मा सर्वत्र व्यापक है, सर्वशक्तिमान् तथा स्थूल, सूक्ष्म व कारणशरीरों से रहित है।

९-**विद्ययाऽमृतमश्नुते।।** (ईशावास्यो०)
परमात्मा की प्राप्ति विद्या-आत्मा और शुद्धान्तःकरण के संयोग रूप धर्म से उत्पन्न यथार्थ ज्ञान से होती है।

१०-**ओ३म् खं ब्रह्म।।** (ईशावास्यो०)
वह परमात्मा किसी स्थान विशेष में नहीं रहता। वह तो आकाश के समान व्यापक, ओ३म्-सब का रक्षक तथा ब्रह्म-गुण, कर्म, स्वभाव से सब से बड़ा है।

११-**सत्यमेव जयते नानृतम्।।** (मुण्डको०)
सत्य ही की विजय होती है, झूठ की नहीं।

१२-**न तस्य कार्य कारणं च विद्यते।।** (श्वेताश्वर०)
उस परमात्मा का कोई कारण नहीं है, और नहीं उसका कोई कार्य ही है-अर्थात् परमात्मा इस जगत् का उपादानकरण नहीं है।

१३-**तमेव विदित्वातिमृत्युमेति।।** (श्वेताश्वतर०)
मनुष्य एकमात्र परब्रह्म को जानकर ही मुत्यु-दुःख से मुक्त हो सकता है।

उपनिषद् विषयक महर्षि-दयानन्द के वचन

१-''वेदान्त सूत्रों के पढ़ने से पूर्व ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य और बृहदारण्यक इन दश उपनिषदों को पढ़के छः शास्त्रों के भाष्यवृत्ति-सहित सूत्रों को दो वर्ष के भीतर पढावें और पढ़ लेवें।'' (सत्यार्थ० तृतीय समु०)

२-''छटा (शास्त्र) वेदान्त शास्त्र जो कि ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐयरेय, छान्दोग्य और बृहदारण्यक ये दश उपनिषद् तथा व्यासमुनिकृत सूत्र जो कि बौद्धायन वृत्त्यादि व्याख्या सहित वेदान्त-शास्त्र है।।'' (ऋ०भृ० ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्यविषयः)

३-''वेदों के छः उपाङ्ग अर्थात् जिनका नाम षट्शास्त्र है।'' (ऋ०भू०ग्रन्थप्रामा०)

४-''**शारीरिक सूत्राणि तत्रोपनिषन्मन्त्रारणां व्याख्यानमस्ति।**'' (पत्रविज्ञापन २)
अर्थात् शरीरिक सूत्रों में उपनिषद् के मन्त्रों का व्याख्यान है।

५-''केन से लेकर बृहदारण्यक पर्यन्त नव उपनिषद् ब्राह्मरणग्रन्थान्तर्गत होने से उनकी भी '**ब्राह्मणानीतिहासान्०**' इस वचन से इतिहास संज्ञा है। (ल०ग्र०सं० ३६४पृ०)

६-उपनिषदों में जीव और परमात्मा को भिन्न बहुत स्थानों पर दिखाया जाता है। सब जीवों में परमात्मा अन्तर्यामी रूप में स्थित है, क्योंकि उसी परमात्मा के व्यापकत्वादि धर्म सर्वत्र उपनिषद् में व्याख्यात हैं। (स०प्र० २९५पृ०)

७-''एक 'ईशावास्य' उपनिषद् तो यजुर्वेद का चालीसवां अध्याय होने से वेद है'' (ल०ग्र०सं०३६४पृ०)

८-'वेदों में पराविद्या न होती तो 'केन' आदि उपनिषदों में कहाँ से आती? 'मूलं नास्ति कुतः शाखाः? क्या जो परमेश्वर अपने कहे वेदों में अपनी स्वरूप विद्या का प्रकाश न करता, तो किसी ऋषि मुनि का सामर्थ्य ब्रह्मविद्या के कहने में कभी हो सकता था? क्योंकि कारण के बिना कार्य होना असम्भव है।'(ल.ग्र.सं. ३६६पृ.)

९-''जैसी यह (अल्लोपनिषद्) उपनिषद् बनाई है, वैसी बहुत सी उपनिषदें मत-मतान्तर वाले पक्षपातियों ने बनाली हैं। जैसी कि स्वरोपनिषद्, नसिंहतापनी, रामतापनी, गोपालतापनी बहुत सी बनाली हैं।'' (सत्यार्थ० चतर्दशसमु०)

१०-''कालाग्निरूद्रोपनिषद् किसी 'रखोडिया' मनुष्य अर्थात् राख धारण करने वाले ने बनाई है।'' (सत्यार्थ०एकादशसमु०)

११-''जाबालोपनिषद्' मिथ्या है।

This document is created by GIRDAC PDF Creator Pro trial version
GIRDAC PDF Creator Pro full version does not add this green footer
Full version can be ordered from http://www.girdac.com/Products/Buy.htm

(दया०शा०सं०५६,६२)

१२-''नारदपरिव्राजकोपनिषद्' आजकल के पाखण्डी सम्प्रादायिकों का वचन। (स०प्र०१३४ पृ०)

१३-''सन्ध्याविषयक विशेष निरूपण सांध्योपनिषद् में है।'' (स०प्र० १४३ पृ०)

उपर्युक्त महर्षि दयानन्द के वचनों से अनेक बातें स्पष्ट हो रही हैं। उनमें कतिपय निम्न लिखित हैं-

१-उपनिषदों तथा वेदान्तदर्शन का प्रतिपाद्य विषय एक ही है।

२-महर्षि दयानन्द ने ईशादि दश उपनिषदों को ही विशेषत: प्रामाणिक माना जाता है क्योंकि वे वेद-मूलक हैं।

३-उपनिषदों में जो ब्रह्मविद्या का वर्णन है, उसका मूल वेदों में है।

४-उपनिषदों की गणना उपाङ्गों में है।

५-केन से लेकर बृहदारण्यक पर्यन्त नव उपनिषदें ब्राह्मणान्तर्गत ही हैं।

६-उपनिषदों में जीव ब्रह्म का भेद स्पष्टरूप से माना है।

७-उपनिषदें ब्रह्मविद्या का आदिस्रोत नहीं। आदिस्रोत तो वेद हैं। उपनिषत्कारों ने वेदों को पढ़कर ही ब्रह्मविद्या को सीखा।

८-वेदों में पराविद्या तथा अपराविद्या दोनोंका ही वर्णन है।

९-महर्षि ने प्रामाणिक दश उपनिषदों से भिन्न श्वेताश्वतर०, मैत्रायणी तथा कैवल्योपनिषद् के भी वेद-मूलक प्रमाणों को माना है। सर्वांश में इनकी प्रामाणिकता स्वीकार नहीं की है।

शांकर-भाष्य की कतिपय अवैदिक मान्यताएँ

१. ''**एवं श्रुतिस्मृतिविरोधान्न कर्मसाधनममृतत्वं न्यायविरोधाच्च। कर्मसाधनत्वे मोक्षस्य चतुर्विधक्रियान्तर्भावादनित्यत्वं स्यात् यत्कृतकं तदनित्यमिति कर्मसाध्यस्य नित्यत्वादर्शनात्। नित्यश्च मोक्षः सर्ववादिभिरभ्युपगम्यते।**''

अर्थात् इस प्रकार श्रुति-स्मृतियों से विरोध होने के कारण तथा युक्ति से भी विरूद्ध होने से अमृतत्व कर्मसाध्य नहीं है यदि इसे कर्मसाध्य माना जायेगा, तो मोक्ष भी चार प्रकार की क्रियाओं (उत्पाध, विकार्य, संकार्य और प्राप्य) के अन्तर्गत होने से अनित्य ही जायेगा। क्योंकि जो क्रियासाध्य होता है वह अनित्य होता है;, इस नियम के अनुसार क्रिया-साध्य की नित्यता नहीं देखी जाती, किन्तु मोक्ष को तो सभी सिद्धान्त वालों ने नित्य माना है। (श्वेताश्वर० अ० १शांकरभाष्य)

समीक्षा-श्री शंकराचार्य जी ने ''मोक्ष को कर्म साध्य नहीं माना। क्योंकि यदि मोक्ष कर्म-साध्य हो तो वह अनित्य हो जाए। और मोक्ष को सभी नित्य मानते हैं।'' शंकराचार्य जी की बातें सत्य नहीं है। मोक्ष दु:खों से निवृत्त तथा परमानन्द की प्राप्ति का ही नाम है। जीवों को सुख व दु:खों की प्राप्ति अपने-अपने कर्मो के अनुसार ही ईश्वर की व्यवस्था से होती है। मोक्ष भी हमारे कर्मो का ही फल है। मोक्ष में जीवों का लय नहीं होता अर्थात् वे मुक्त जीव परब्रह्म के सानिध्य से मोक्ष के सुख को भोगते हैं। और सान्तकर्मो कर फल अनन्त कभी नहीं हो सकता। अत: मोक्षसुख को नित्य-सदा रहने वाला मानना एक अवैदिक धारणा है। अद्वैतवाद में जीव की ब्रह्म से पृथक् कोई सत्ता ही नहीं है। इनके अनुसार जीव का ब्रह्म में लय होना ही मोक्ष है। किन्तु यह मान्यता शास्त्रविरूद्ध होने से कदापि मान्य नहीं हो सकती। मोक्ष में जीव कैसे सुख भोगते हैं, इसका वर्णन करते हुए शतपथ ब्राह्मण में लिखा है-

'शृण्वन् श्रोत्रं भवति, स्पर्शयन् त्वा भवति०।'

(श०का०१४)

इससे स्पष्ट है कि जीव मोक्ष में ब्रह्म में लीन नहीं होता अपितु पृथक् रहता हुआ मोक्ष सुख को भोगता है। महर्षि दयानन्द लिखते हैं-

'जो मुक्ति में जीव का लय होता तो मुक्ति का सुख कौन भोगेगा? और जो जीव के नाश ही को मुक्ति समझते हैं, वे तो महामूढ हैं। क्योंकि मुक्ति जीव की

This document is created by GIRDAC PDF Creator Pro trial version
GIRDAC PDF Creator Pro full version does not add this green footer
Full version can be ordered from http://www.girdac.com/Products/Buy.htm

यह है कि दु:खों से छूटकर आनन्दस्वरूप सर्वव्यापक, अनन्त परमेश्वर में जीव का आनन्द में रहना। देखों वेदान्तशारीरिक सूत्रों में ''अभावं वादरिराह ह्येवम्। जो वादरि व्यास जी का पिता है वह मुक्ति में जीव का और उसके साथ मन का भाव मानता है। (सत्यार्थ ०९ समु०)

इसी विषय को ऋ० भू० के मुक्ति विषय में महर्षि-दयानन्द लिखते हैं-

''जब जीव मुक्त दशा को प्राप्त होता है, तब वह शुद्ध मन से परमेश्वर के साथ मोक्ष में रहता है और इन दोनों से भिन्न इन्द्रियादि पदार्थो का अभाव हो जाता है। तथा (भावं जैमिनि०) इसी विषय में व्यास जी के मुख्यशिष्य जो जैमिनि थे, उनका ऐसा मत है कि जैसे मोक्ष में मन रहता है वैसा ही शुद्ध संकल्पमय शरीर तथा प्राणादि और इन्द्रियों की शुद्ध शक्ति भी बराबर बनी रहती है।''

इससे स्पष्ट है कि वेदान्तदर्शनकार मोक्ष में जीव का लय नहीं मानता। और मोक्ष में जीवों की मोक्षावधि के समाप्त होने पर पुनरावृत्ति भी होती है। इस विषय में वेद में लिखा है-

कस्य नूनं कतमस्यामृतानां मनामहे चारूदेवस्य नाम।
को नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च।।
अग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतानां मनामहे चारूदेवस्य नाम।
स नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च।।
(ऋ०१।२४।१-२)

इन मन्त्रों का अर्थ करते हुए महर्षिदयानन्द लिखते हैं-''(प्रश्न) हम लोग किसका नाम पवित्र जानें? कौन नाशरहित पदार्थो के मध्य में वर्त्तमान देव सदा प्रकाशस्वरूप है। हम को मुक्ति का सुख भुगाकर पुन: इस संसार में जन्म देता और माता तथा पिता को दर्शन कराता है?

उत्तर-हम इस स्वप्रकाशस्वरूप अनादि सदा मुक्त परमात्माका नाम पवित्र जानें जो हमको मुक्ति में आनन्द भुगाकर पृथिवी में पुन: माता पिता के संबंध में जन्मदेकर माता-पिता का दर्शन कराता है। वहीं परमात्मा मुक्ति की व्यवस्था करता सबका स्वामी है।'' (स.प्र.स.-९)

मुक्ति की अवधि तथा मुक्ति से पुनरावृत्ति का वर्णन करते हुए मुण्ड-कोपनिषद् में कहा है-

तें ब्रह्मलोके ह परान्तकाले परामृतान् परिमुच्यन्ति सर्वे। इसकी व्याख्या महर्षि दयानन्द ने इस प्रकार की है-''वे मुक्तजीव मुक्ति में प्राप्त होके ब्रह्म में आनन्द को तब तक भोग के पुन: महाकल्प के पश्चात् मुक्तिसुख को छोड़ के संसार में आते हैं।''

'परान्तकाल की व्याख्या करते हुए महर्षि लिखते हैं-इसकी संख्या यह है कि ४३ लाख २० सहस्त्र वर्षो की १ चतुर्युगी, २ सहस्त्रचतर्युगियों का एक अहोरात्र, ऐसे ३० अहोरात्रों का एक महीना, ऐसे बारह महीनों का एक वर्ष, ऐसे शतवर्षो का 'परान्तकाल होता है।''
(सत्यार्थ० नवम० समु०)

और जीवों का सामर्थ्य तथा कर्म सान्त होने से उनका फल अनन्त कैसे हो सकता है। इससे ईश्वर की न्यायव्यवस्था भी स्थिर व सच्ची नहीं कहला सकती है। इस विषय में महर्षि दयानन्द ने बहुत ही स्पष्ट लिखा है-''प्रथम तो जीव का सामर्थ्य शरीरादि पदार्थ और साधन परिमित हैं, उसका फल अनन्त कैसे हो सकता है? अनन्त को भोगने का असीम सामर्थ्य, कर्म और साधन जीवों में नहीं, इसलिए अनन्त सुख नहीं भोग सकते। जिनके साधन अनित्य हैं, उनका फल नित्य कभी नहीं हो सकता। और जो मुक्ति में से कोई भी लौटकर जीव इस संसार में न आवे तो संसार का उच्छेद अर्थात् जीव निश्शेष हो जाने चाहिए।''(स.प्र.स.-९)

इसलिए मुक्ति में जीवों का लय मानना, मुक्ति को नित्य मानना, मुक्ति को कर्मो का फल न मानना, इत्यादि श्री शंकराचार्य जी की बातें वेदादि शास्त्रों तथा मुक्ति से विरूद्ध होने से सत्य नहीं हैं।

२-मनु '**विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह**' (ईशा० ११) '**तपो विद्या च विप्रस्य नै:श्रेयस्करं परम् इत्यादिनाकर्मणामप्यमृतत्वप्राप्ति-हेतुत्वमवगम्यते।सत्यम् अवगम्यत एव तदपेक्षितत्शुद्धिद्धारेण न साक्षात्।**
(श्वेताश्वतर० अ० १ शांकरभाष्यम्)

This document is created by GIRDAC PDF Creator Pro trial version
GIRDAC PDF Creator Pro full version does not add this green footer
Full version can be ordered from http://www.girdac.com/Products/Buy.htm

प्रश्न-किन्तु "जो विद्या (ज्ञान) और अविद्या (कर्म) इन दोनों को साथ-साथ जानता है" "तप और ज्ञान ये ब्राह्मण के निःश्रेयस के उत्कृष्ट साधन हैं" इत्यादि वाक्यों से तो कर्मों का भी अमृतत्व की प्राप्ति में हेतु होना जान पड़ता है।

उत्तर-ठीक है, जान तो पड़ता ही है, परन्तु ज्ञान के लिए अपेक्षित चित्तशुद्धि के द्वारा ही कर्म का अमृतत्व में हेतुत्व है, साक्षात् नहीं।

समीक्षा- उपर्युक्त स्थल पर श्री शंकराचार्य जी ने कर्मों का फल चित्तशुद्धि तक ही माना है, अमृत-मोक्ष में साक्षात् नहीं। यथार्थ में श्री शंकराचार्य जी की पूर्वमिथ्याग्रह का ही यह परिणाम है कि वे सत्य बात को भी स्वीकार नहीं कर सकते। वेदादि के प्रमाणों में जो बात नहीं कहीं,उस बात की बलात् व्याख्या करना दुराग्रह ही कहलाता है। मन्त्र में तो 'उभयं सह' ज्ञान और कर्म को साथ-साथ लिखा है, फिर उसकी विपरीत व्याख्या क्यो? और क्या बिना ज्ञान कर्मों का करना सम्भव है? चित्तशुद्धि के लिए भी जो आवश्यक योगाङ्गों के अनुष्ठानादि कर्म हैं, क्या वे बिना ज्ञान के हो जायेंगे? ज्ञान और कर्म की ऐसी सीमा बांधना कि चित्तशुद्धि तक कर्म तथा बाद में ज्ञान से मोक्ष होता है, कोई युक्तियुक्त बात तथा प्रमाणिक नहीं है। और इस बात को स्वयं श्री शंकराचार्य जी ने वेदविरूद्ध माना है। (अगले उद्धरण) में यथार्थ में सहसा ज्ञान नहीं होता और ज्ञान के बिना कर्म नहीं होता। इन दोंनों के साथ-साथ उत्तरोत्तर परिष्कृत होते-होते ज्ञान की पराकाष्ठा पर मोक्ष होता है। मोक्षप्राप्ति के अन्तिम क्षण तक शुभकर्म निष्काम भाव से करने आवश्यक हैं। क्योंकि शुभकर्मो का फल ही मोक्ष होता है।

३-**'यावज्जीवं यथाकामं पुण्य-पापादिकं कुर्वत्यपि विदुषि न कर्मलेपो भवति विद्यासामर्थ्यादिति। तथा हि-'ईशावास्यमिदं सर्वम्' (ईशावा० उ० १) इत्यारभ्य 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः' (ईशा० उ० १) इति विदुषः सर्वकर्मत्यागेनात्मपालनमुक्त्वानियोज्ये ब्रह्मविदि त्यागकर्त्तव्यतोक्तिरप्ययुक्तैवोक्तेति चकितः सन् वेदो विदुषस्त्यागकर्त्तव्यतामपि नोक्तवान्।"**

(श्वेताश्वतर० अ० १, शां० भा०)

अर्थात् विद्वान् स्वेच्छा से जीवनपर्यन्त पुण्यपापादिरूप-कर्म करता भी रहे तो भी ज्ञान के सामर्थ्य से उसे उन कर्मो का लेप नहीं होगा। तात्पर्य यह है कि **'ईशावास्यमिदं सर्वम्'** यहाँ से लेकर **'तेन त्यक्तेन-भुञ्जीथाः'** इस प्रथम मन्त्र से सर्वकर्म परित्यागपूर्वक आत्मरक्षा का प्रतिपादन करने पर वेद यह देखकर कि जिसके लिए कोई भी विधि नहीं की जा सकती,उस ब्रह्मवेत्ता के लिए सर्वकर्म परित्याग का विधान करना भी अनुचित ही है, यह जानकर चकित हुआ,अतः वेद ने विद्वान् के लिए कर्मत्याग की भी विधि नहीं कहीं है।

समीक्षा- श्री शंकराचार्य जी का यह मन्तव्य कि ब्रह्मवेत्ता के लिए कर्म करने की आवश्यकता नहीं, यह स्वयं कल्पित तथा अवैदिक है। और उपर्युक्त उद्धरण में शंकर स्वामी को इस बात को स्वीकार करना पड़ा है। उपनिषद् में ब्रह्मज्ञानियों (क्रियावान्-कर्म करने वालों) को सब से श्रेष्ठ मानते हुए लिखा है-क्रियावान् एष ब्रह्मविदां वरिष्ठः।। (मुण्डक० ३।१।४)

वेद में तो जीवन भर शुभ कर्मो को करने का आदेश दिया है। और यह कितने आश्चर्य की बात है कि मुमुक्षु विद्वान् जीवन पर्यन्त कितने ही पाप-पुण्य कर्म करते रहे, वह कर्मो से लिप्त नहीं होता, ज्ञान के सामर्थ्य से। अनासक्ति भाव से शुभकर्म करता हुआ जीव मोक्ष को प्राप्त करता है, यह तो सत्य है किन्तु पापकर्म भी करता रहे और उनसे लिप्त न होवे, यह कैसे सम्भव है? कर्मो का फल तो अवश्य ही मिलेगा,चाहे शुभ हों या अशुभ। मोक्ष शुभकर्मो का ही फल है। विद्वान् ज्ञान-सामर्थ्य से पापकर्मों के फल से कभी मुक्त नहीं हो सकता। ऐसी अवैदिक व असत्य धारणाओं में अद्वैतवादी साधु स्वयं को पापी बनाते हैं और संसार को

This document is created by GIRDAC PDF Creator Pro trial version
GIRDAC PDF Creator Pro full version does not add this green footer
Full version can be ordered from http://www.girdac.com/Products/Buy.htm

पापकर्म पर चलने का निर्देश करते हैं। यह कितना बड़ा दुष्कर्म है।

४-''**ये मुमुक्षवो दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णाः सन्त उपनिषच्छब्दितविद्यां निश्चयेन शीलयन्ति तेषामविद्यादेः संसारबीजस्य विशरणाद् विनाशनात् परब्रह्मगमयितृत्वाद् गर्भजन्ममरणाद्युपद्रवाव-सादयितृत्वाद् उपनिषत्।** (श्वेताश्वतर ०अ० १०, शां०भा०)

अर्थात् जो मोक्षकामी पुरूष दृष्ट और श्रुत विषयों से विरक्त हो उपनिषद् शब्द से कही जाने वाली विद्या का निश्चय पूर्वक तत्परता से अनुशीलन करते हैं, उनकी संसार की बीजभूता अविद्या का विवरण-विनाश हो जाने के कारण उन्हें परब्रह्म के पास ले जाने वाली होने से उनके जन्म मरणादि उपद्रवों का अवसादन करने वाली होने के कारण यह उपनिषद् है।

समीक्षा- मुमुक्षु ब्रह्मविद्या से अज्ञान का नाश करते हैं, यह सत्य है। किन्तु अविद्यानाश से संसार का भी नाश हो जाता है यह कार्य कारण से विरूद्ध होने से असम्भव बात है। क्योंकि इस संसार का मिथ्या या अविद्या का कार्य कभी नहीं माना जा सकता। यह संसार मूल प्रकृति का कार्य है। उसका अविद्या से क्या संबंध? और 'उपनिषद्' शब्द 'उप' तथा 'नि' पूर्वक 'सद्' धातु से बना होता है। इन उपसर्गों के सम्पर्क से 'सद्' धातु का विनाश अर्थ में वैदिक-साहित्य में कहीं प्रयोग भी नहीं मिलता। अतः यौगिकार्थ की दृष्टि से तथा कार्य-कारण भाव को दृष्टि से अविद्या नाश से संसार का नाश कभी नहीं हो सकता। यह पूर्वाग्रहवश ही कल्पित व्याख्या की गई है।

अद्वैतमतखण्डन-

अद्वैतभाव-यदि ब्रह्म ही एक माना जाए, जीव की कोई सत्ता न मानी जाए? तो कौन किस की उपासना करें? 'उपासना करना' क्रिया कौन करे? इस भ्रान्ति को दूर करने के लिए दो ब्रह्म मानने पड़ेंगे। एक ब्रह्म जन्म लेकर संसार में आने वाले, और दूसरा अजन्मा। जो ब्रह्म जगत् में उत्पन्न होकर शरीरादि धारण करता है, उसी में उपासना गुण रहता है। और यह अजन्मा ब्रह्म की उपासना करने वाले ब्रह्म ही जीव है। यदि इसे जीव न मानकर ब्रह्म ही माना जाए तो ब्रह्म दो प्रकार वा दो गुण वाला माना जाएगा। और एक ही वस्तु में दो परस्पर विरूद्ध गुण या धर्म कदापि नहीं रह सकते। जैसे घट उत्पन्न होने से उत्पत्तिधर्मक है और उसे कोई भी आकाश के समान अनुत्पत्ति धर्म वाला नहीं मान सकता। जैसे रात-दिन, प्रकाश-अंधकार आदि परस्पर विरूद्ध एक समय वा स्थान पर नहीं होते, वैसे ही ब्रह्म भी परस्पर दो विरोधी गुण वाला सम्भव नहीं। और उन के पक्ष की सिद्धि में कोई भी ऐसा दृष्टान्त भी नहीं मिलेगा।

अद्वैतवादी आकाश का उदाहरण दिया करते हैं। जैसे एक ही आकाश अनेक घटों में भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है। परन्तु तो भी आकाश परिच्छिन्न नहीं कहाता, प्रत्युत व्याप्त बना रहता है, वैसे ही एक ही ब्रह्म सब भूतों में व्याप्त है, भिन्न-भिन्न अन्तःकरण में भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है, किन्तु वह परिच्छिन्न नहीं होता।

यह आकाश का दृष्टान्त उनके अद्वैतपक्ष को सिद्ध नहीं करता। यदि आकाश कोई वस्तु ही नहीं है, तो दृष्टान्त के मिथ्या होने से अद्वैतपक्ष खण्डित हो जाता है। जैसे वन्ध्या पुत्र व गगनकुसुम का कोई दृष्टान्त नहीं दे सकता। वैसे ही अद्वैतपक्ष वालों को अपनी मान्यता के विरूद्ध आकाश का भी दृष्टान्त नहीं देना चाहिए। क्योंकि अविद्यमान वस्तु के दृष्टान्त से किसी साध्य वस्तु की सिद्धि भी नहीं हो सकती। यदि घटनास्थानीय जड़ अन्त करण ही परब्रह्म को भिन्न-भिन्न करने वाले अद्वैतवादी मानते हैं, तो घटादि में एक ही आकाश की भांति सब अन्तःकरणों में एक ही ब्रह्म के विद्यमान होने से सब के मन की बातों का ज्ञान होना चाहिए। किन्तु ऐसा नहीं होता। और जो आकाश व घड़े के दृष्टान्त से जीव-ब्रह्म की एकता सिद्ध करना चाहते हैं, उन्हें घट, आकाश तथा परमेश्वर को स्वीकार करने से अद्वैतवाद कहाँ सिद्ध हुआ।?

और यदि 'अद्वैत' शब्द ब्रह्म का विशेषण है, तो

This document is created by GIRDAC PDF Creator Pro trial version
GIRDAC PDF Creator Pro full version does not add this green footer
Full version can be ordered from http://www.girdac.com/Products/Buy.htm

दूसरा ब्रह्म नहीं, ऐसा अर्थ करना चाहिए। क्योंकि जिसके साथ अन्य को पृथक करने वाला विशेषण होता है। वह उसी के दूसरे भाव को हटाता है। जैसे किसी ने किसी से कहा-देवदत्त अद्वितीय पण्डित है। यहाँ यही अर्थ होता है कि उनके तुल्स दूसरा नहीं है, अन्य चेतनादि का निषेध नहीं हो सकता। इसी प्रकार 'अद्वैतब्रह्म' कहने से द्वितीय ब्रह्म का ही निषेध होगा, जीवात्मा व वृक्षादि संसार का निषेध नहीं हो सकता।

अन्य ब्रह्म का निषेध भी तीन प्रकार से होता है-(एक) ब्रह्म का सजातीय कोई दूसरा ब्रह्म नहीं है। (द्वितीय) विजातीय पदार्थों में ब्रह्म के तुल्य सामर्थ्यवाला वा बड़ा कोई नहीं है। तथा (तृतीय) उस ब्रह्म में मनुष्यादि के शरीर के समान अवयवायविभेद नहीं है।, क्योंकि वह व्यापक व निराकार है।

सृष्टि के विषय में नवीन वेदान्तियों का सिद्धान्त है कि न सत् की उत्पत्ति और न असत् ही अर्थात् कभी कोई वस्तु किसी प्रकार उत्पन्न होती ही नहीं, न कुछ है, केवल भ्रममात्र सब दीखता है।'न निरोधो०' इत्यादि गौड कारिकाओं में यह स्पष्ट लिखा है कि न किसी वस्तु वा संसार की उत्पत्ति होती, प्रलय होता, न कोई बद्ध-दु:खी न दु:ख से बचने का कोई उपाय तथा न कोई मुक्त, न कोई मुक्ति का चाहने वाला है, इत्यादि प्रकार से सब का अभाव समझ लेना ही परमार्थ की सिद्धि है।

नवीन वेदान्तियों की यह मान्यता शास्त्रविरूद्ध तथा प्रत्यक्ष प्रमाण के तो विरूद्ध है ही, किन्तु इनके मान्यग्रन्थ गीता के भी विरूद्ध है। गीता में लिखा है- नासतो भावो नाभावो विद्यते सत:।। (गीता २।१६) सत् (भाव) तथा असत् (अभाव) दोनों के सम्बन्ध में एक निश्चित सिद्धान्त है-जो नहीं है वह कभी होगा भी नहीं, और जो है, उनका कभी अभाव नहीं होगा। उसका रूपान्तर तो सम्भव है परन्तु नाश कभी नहीं हो सकता।

अत: जो कुछ संसार में दिखाई दे रहा है, न तो मिथ्या ही है, और न ही इसका अभाव ही होगा।

नवीन वेदान्तियों की ऐन्द्रजालिक (बाजीगर) का दृष्टान्त भी ठीक नहीं है। जैसे बाजीगर ऐसी-ऐसी वस्तुओं को दिखा देता है, जो उसके पास नहीं होती। तात्पर्य यह है कि अभाव से भाव दीख पड़ता है। इसी प्रकार परब्रह्म एक ऐन्द्रजालिक है, वह अपना खेल दिखा रहा है। वे अपने पक्ष में निम्न प्रमाण भी देते हैं-

''**इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते।।**''(बृहदा०२।५।१९)

अर्थात् इन्द्र-परब्रह्म माया-छलकपट से अनेक रूपों को प्राप्त हो रहा है। इसका उत्तर यह है कि-सब कुछ मिथ्या कहने वालों की दृष्टि से ऐन्द्रजालिक भी मिथ्या है। यदि उसको सत्य मानोगे तो 'सब मिथ्या है' यह कथन असत्य हो जाएगा और यदि ऐन्द्रजालिक अभावात्मक वस्तुओं को दिखा देता है तो खरगोश की सींग या वन्ध्या का पुत्र भी क्यों नहीं दिखा देता? यदि कहो कि वह उन्हीं वस्तुओं को दिखा सकता है, जो संसार में है, तो स्पष्ट है कि वह बाजीगर भावात्मक वस्तुओं को ही दिखाता है, और वे उसके पास होती भी हैं। इस दृष्टान्त से अद्वैतवाद की सिद्धि नहीं हो सकती।

अद्वैतवाद-वेदान्तदर्शन के भी विरूद्ध है-

ब्रह्म का लक्षण करते हुए वेदान्त-दर्शन में लिखा है- **जन्माद्यस्य यत:**।। वेदा० १।१।२।।

अर्थात् इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय जिससे होती है, वह ब्रह्म है। अत: ब्रह्म जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय जिससे होती है, वह ब्रह्म है। अत: ब्रह्म जगत् की उत्पत्ति में निमित्तकरण है। ब्रह्म को जगत् का उपादान कारण नहीं माना जा सकता। क्योंकि उपादान कारण परतन्त्र और परिगामी होता है और ब्रह्म एकरस तथा स्वतन्त्र है। संसार में ऐसा कोई दृष्टान्त नहीं मिलता, जो एक ही उपादान कारण तथा निमित्तकरण हो। और जगत् को देखने से भी स्पष्ट होता है कि ब्रह्म उपादान कारण नहीं हो सकता। क्योंकि उपादान कारण के गुण कार्य में अवश्य आते हैं। ब्रह्म के चेतनादि गुण जगत् में नहीं पाए जाते, अत: ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण ही है।

This document is created by GIRDAC PDF Creator Pro trial version
GIRDAC PDF Creator Pro full version does not add this green footer
Full version can be ordered from http://www.girdac.com/Products/Buy.htm

नवीन वेदन्तियों का मकड़ीका दृष्टान्त भी उनकी मान्यता को सिद्ध नहीं करता। क्योंकि मकड़ी की आत्मा चेतन और जाला जड़ है। जड़ और चेतन और एक मानना मूर्खो का काम है। यदि मकड़ी का शरीर और आत्मा एक होते, तो मृतक मकड़ी कभी भी दृष्टिगोचर न होती। मृतक मकड़ी को देखकर स्पष्ट हो जाता है कि चेतन आत्मा इससे पृथक् है। अत: शरीर मकड़ी के जाले का उपादान कारण है और चेतनात्मा निमित्तकरण है। यह दृष्टान्त ब्रह्म को जगत् का निमित्त करण ही सिद्ध करता है, उपादान कारण नहीं।

नवीन वेदान्तियों का यह रज्जू-सर्प का दृष्टान्त भी उनकी मान्यता का खण्डन करता है। इस दृष्टान्त से वेदान्ती ब्रह्म को विवृतोपादान मानते हैं। विवृत समान आकृति अथवा समान धर्म वालों में हो होता है। और प्रथम से उन दोनों वस्तुओं का ज्ञान भी हो, तब भ्रम होता है। किन्तु भिन्न आकृति और गुणों वालों में कदापि भ्रम नहीं होता। रस्सी में सर्प का तो भ्रम हो सकता है। हाथी घोड़े का नहीं। सिप्पी में चांदी का भ्रम हो सकता है। किन्तु लोहा व सुवर्ण का नहीं। अत: जबकि ब्रह्म और जगत्में न तो आकृति मिलती है, न धर्म, तो ब्रह्म में जगत् का भ्रम कैसे हो सकता है। दूसरे विवृत किसी को किसी का किसी में होता है। जैसे मनुष्य को सर्प का भ्रम रस्सी में, थोड़ प्रकाश व थोड़े अन्धकार के कारण होता है। जिससे स्पष्ट है कि बिना चार चीजों के भ्रम या विवृत नहीं हो सकता, किन्तु अद्वैतवादियों के पास ब्रह्म के सिवाय कोई वस्तु ही नहीं, फिर भ्रम या विवृत कैसे हो सकता है? और सर्वज्ञ ब्रह्म को भ्रम कहना कितनी बड़ी महा भ्रान्ति है? प्रकृति अचेतन है, उसमें भ्रम सम्भव ही नहीं। अल्पज्ञ जीव को ही भ्रम हो सकता है किन्तु उसकी सत्ता ही स्वीकार नहीं करते। अत: किसी भी प्रकार अद्वैतवाद की मान्यता सत्य सिद्ध नहीं होती। और वेदान्तियों की यह प्रतिज्ञा कि-

''**ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मवैनापर:।**

सर्वथा निराधार एवं मिथ्याही है। और उस परब्रह्म को जगत् का उपादान कारण मानने का खण्डन स्वयं उपनिषद् में स्पष्टरूप से किया है गया।

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते। परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञान बलक्रिया च।। श्वेताश्व० ६।८।।

अर्थात् उस परब्रह्म का कोई कार्य तथा कारण नहीं है। यदि परब्रह्म जगत् का उपादानकरण होता, तो जगत् को परब्रह्म का कार्य अवश्य मानना पड़ता।

नवीन वेदान्तियों का मायावाद-

न्याय, वैशेषिक, सांख्य तथा मीमांसादि शस्त्र जगत् का उपादानकारण 'प्रकृति' अथवा 'परमाणु' को मानते हैं। वेदों में इसका नाम 'स्वधा' है। उपनिषदों में इसका नाम 'माया' तथा 'अजा' आता है। जैसे कि कहा गया है-

मायान्तु प्रकतिं विद्यात्।। श्वेता० ४।११।।
अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्०।।

इत्यादि स्थलों पर 'माया' व 'अजा' शब्द प्रकृति के लिए प्रयुक्त हैं। इन शब्दों से यह भी स्पष्ट है कि 'निमीते मानयुक्तं करोतीति माया' अर्थात् जो इस संसार को एक विशेष मानयुक्त-कार्यकार बनाए, उसका नाम माया है। और ''न जायते इत्यजा'' जो उत्पन्न न हो, उसका नाम 'अजा' है। और यह सतोगुण,रजोगुण तथा तमोगुणयुक्त, अनादि व शाश्वत-नित्य है।

नवीन वेदान्ती इस प्रकृति का खण्डन करके माया को जगत् का उपादान कारण मानते हैं। इनके मतानुसार माया का अर्थ मिथ्या है और यह प्रकृति के समान कोई भावात्मक पदार्थ नहीं है। यह माया न सत् है, न असद् न निराकार और न साकार। उसे ये सदसद् से विलक्षण एवं निर्वचनीय बताकर लोगों की जिज्ञासा को अपूर्ण ही छोड़ देते हैं और इसे सब प्रकार के प्रश्नों से बचने का उपाय मान बैठे हैं। शांकरभाष्य के टीकाकारों का कथन है- ''**मायावादे स्वप्नवत्सर्वं समञ्जसम्**''।।

(स्वामी गोविन्दानन्द)

''**अनेन स्फुटतो मायावाद:, स्वप्नदृगात्मा।**''

(श्री वाचस्पतिमिश्र)

This document is created by GIRDAC PDF Creator Pro trial version
GIRDAC PDF Creator Pro full version does not add this green footer
Full version can be ordered from http://www.girdac.com/Products/Buy.htm

अर्थात् मायावाद के अनुसार यह जगत् स्वप्न के समान है। जैसे स्वप्न का द्रष्टा अपने मन से ही बिना किसी परिणाम के स्वप्नों की सृष्टि को रच लेता है, इसी प्रकार ब्रह्म माया-शक्ति से सृष्टि को रच लेता है।

प्रथम को 'माया' शब्द की परिभाषा ही वेदान्तियों की स्वयं कल्पित ही है। इनके लक्षण की पुष्टि किसी भी प्रमाण से नहीं होती। उपनिषदों में प्रकृति का पर्यायवाची 'माया' शब्द को मानना है। किन्तु उसकी अन्य विशेषताएँ इन वेदान्तियों की कल्पनामात्र ही है। और इनका यह मायावाद (स्वप्नसदृश) वेदान्त दर्शन के भी विरूद्ध है। वहाँ स्वप्नवाद का स्पष्ट रूप से खण्डन करते हुए लिखा है-

वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्।।(ब्र०सू०२।२।२८)

अर्थात् यह संसार स्वप्न के तुल्य कदापि नहीं है। क्योंकि स्वप्न तथा संसार के पदार्थो में वैधर्म्य-अत्यन्त भेद पाया जाता है। स्वप्न के पदार्थ निद्रादोष मिट जाने पर मिट जाते हैं, किन्तु संसार के पदार्थ इनकी मानी हुई माया के मिट जाने पर भी नष्ट नहीं होते। जिन आद्य श्री शंकराचार्य आदिको और मिथ्याज्ञान नष्ट होना ये मानते हैं, तब भी यह संसार पूर्ववत् ही था, और अब भी विद्यमान है। और जैसा 'माया' शब्द का अर्थ वेदान्तियों ने माना है, इसकी पुष्टि किसी शास्त्र में नहीं होती। 'माया-शब्द' कहीं भी मिथ्यार्थ में शास्त्रों में नहीं आता। शास्त्रों में 'माया' शब्द 'शक्ति', 'प्रज्ञा' आदि अर्थो में ही प्रयुक्त है। माया पद का शाब्दिक अर्थ भी 'मीयते ज्ञायतेऽनयेति माया' मिथ्यार्थ का खण्डन करता है। और जब से 'माया' को मिथ्या ही मानते हैं तो 'मायान्तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनन्तु महेश्वरम्' (श्वेता०४।१०) माया वाले ब्रह्म को भी मिथ्या क्यों नहीं मानते? अतः यह मायावाद वेद व उपनिषदादि से विरूद्ध होने से स्वयं कल्पित ही है। जिस मिथ्या कल्पना के आश्रय से नित्य, शुद्ध, बुद्ध मुक्त स्वभाव वाले परब्रह्म को भी अविद्याकूप में डालकर जीवभाव के प्राप्त कर दिया है।

उपनिषदों का त्रैतवाद-

यद्यपि उपनिषदों वेदान्त का ही भाग होने से आध्यात्मिक-ज्ञान अथवा ब्रह्मज्ञान का ही विशेषरूप से प्रतिपादन करती हैं। पुनरपि प्रसंग से ब्रह्म से भिन्न जीवात्मा तथा प्रकृति का भी वर्णन ही नहीं, प्रत्युत उन्हें, अज-अजन्मा तथा शाश्वत माना है। देखिए उपनिषदों के कुछ स्थल, ये इस विषय के उद्धृत किये जाते हैं-

१-**द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्न-न्योऽभिचाकशीति।।**

(श्वेताश्वतर०४।६), (ऋ०१।१६४।२०)

इस मन्त्र में प्रकृति को एक वृक्ष बताया है। उस पर दो पक्षी रहते हैं। ये जीवात्मा और परमात्मा ही हैं, जो व्याप्त-व्यापक भाव के साथ मिले हुए चेतन होने से मित्र की तरह हैं। वृक्ष को अचेतन होने से प्रकृति की और पक्षियों को चेतन होने से जीवात्मा-परमात्मा की उपमा दी है। इनमें से एक जीव रूपी पक्ष प्रकृति रूप वृक्ष के फलों को खाता है और दूसरा परमात्मा भोगादि से रहित होकर जीवों के कर्मो का साक्षी होकर कर्म-फल देता है।

२-**अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः। अजो ह्येको जुषमारणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः।।**

(श्वेताश्वरतर०४।५)

इसमें परमात्म, जीवात्मा तथा प्रकृति तीनों को अज-अजन्मा अर्थात कभी न उत्पन्न होने वाला बताया है। इनमें से एक प्रकृति सतोगुण, रजोगुण तथा तमोगुण वाली और अपनी विकृति रूप प्रजा को उत्पन्न करने वाली है। इस अनादि व अजन्मा प्रकृति की वस्तुओं का एक अनादि व अजन्मा जीवात्मा भोग करता है, परन्तु दूसरा अनादि व अजन्मा परमात्मा इस जीव से भोगी जाने वाली प्रकृति को न भोगने के कारण पृथक है।

३-**ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशावजा ह्येका**

This document is created by GIRDAC PDF Creator Pro trial version
GIRDAC PDF Creator Pro full version does not add this green footer
Full version can be ordered from http://www.girdac.com/Products/Buy.htm

भोक्तृभोगार्थयुक्ता। अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता,त्रयं यदाविन्दते ब्राह्ममेतत्।।

(श्वेताश्वतर०१।९)

इस मन्त्र में भी परमात्मा, जीवात्मा तथा प्रकृति के परस्पर सम्बन्ध और उनके स्वरूप का वर्णन करते हुए लिखा है-परमात्मा सर्वज्ञ व सर्वशक्तिमान् है और जीवात्मा अल्पज्ञ व अल्प सामर्थ्य वाला है किन्तु दोनों ही अज-अनादि तथा उत्पन्न न होने वाले हैं। तीसरी प्रकृति भोक्ता-जीवात्मा के भोगने योग्य पदार्थो वाली है। और वह भी अज-कभी उत्पन्न नहीं होती। इन तीनों में से परमात्मा अनन्त, विश्वरूप (व्यापक) और सृष्टि को रचकर जीवात्मओं को कर्मानुसार फल भुगाने वाला है। ये तीनों ही ब्राह्म-ब्रह्मा से संबंध रखने वाली सृष्टि रचना में उपयोगी हैं।

४-**नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।।** (कठोप० ५।१३)

वह परब्रह्म प्रकृत्यादि नित्यपदार्थो में नित्य और जीवरूप चेतनों में चेतनस्वरूप है, वह एक है और इस विभिन्नरूप सृष्टि की रचना करता है।

यहाँ परमात्मा से भिन्न प्रकृत्यादि नित्यपदार्थो तथा ब्रह्म से भिन्न चेतन जीवों को स्पष्टरूप से स्वीकार किया है।

५-**ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गृहां प्रतिष्टौ परमे परार्द्धे। छायातमौ ब्रह्माविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणचिकेताः।।** (कठोप० ३।१)

इस मन्त्र में जीवात्मा तथा परमात्मा को छाता-आतप के समान भिन्न-भिन्न माना है। और ये दोनों ही को हृदयाकाश में प्रविष्ट बताया है। 'गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात्'' (ब्र०सू०१।२।११) इस सूत्र में भी जीव-ब्रह्म की भिन्नता का स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है।

६-**ईशावास्यमिद सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।**
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।।

(ईशावा०)

इस मंत्र में सबको आच्छादन करने वाला तथा नियन्त्रण में रखने वाला परमात्मा, 'जगत्' शब्द से चराचर संसार और 'भुञ्जीथा:' शब्द से भोग करने वाले जीव का वर्णन होने से त्रैतवाद का स्पष्ट वर्णन है। क्योंकि परमात्मा तो स्वयं भोग नहीं करता और परमात्मा से भिन्न यदि प्रकृत्यादि की कोई सत्ता ही न हो, तो वह किसे आच्छादन करता है? इसका कोई समाधान न होने से प्रकृति का तथा भोक्ता जीव का इसमें वर्णन है।

७-**सन्मूलाः सोम्येमाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः।।** (छान्दोग्यो० ६।८।४)

अर्थात् सत्यस्वरूप प्रकृति सब जगत् का मूलाधार और स्थिति का कारण है। यहाँ प्रकृति को 'सत्' कहा है, जिसका कभी प्रभाव नहीं होता। यह समस्त संसार प्रकृति का विकार होने से प्रकृति में ही लीन हो जाता है।

८-**य आत्मनि तिष्ठन् आत्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद।**
यस्य आत्मा शरीरम्।।

(बृहदारण्यकोपनिषद्)

इसमें जीवात्मा व परमात्मा का व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध बताते हुए लिखा है कि सूक्ष्म होने से परमात्मा जीवात्मा में भी व्यापक है, यह आत्मा उस परमात्मा को नहीं जानता। उस परमात्मा का यह जीवात्मा निवास होने से शरीर के समान है। इससे स्पष्ट है कि जीवात्मा व्याप्य है और परमात्मा व्यापक है, अत: ये दोनों भिन्न सताएँ हैं।

९- **रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति।**

अर्थात्- जीवात्मा आनन्द स्वरूप नहीं है। परमात्मा आनन्द स्वरूप है यह जीव परमात्मा के सानिध्य से ही आनन्द को प्राप्त करता है।

१०-**यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म।** (तैत्तिरीयोप०)

This document is created by GIRDAC PDF Creator Pro trial version
GIRDAC PDF Creator Pro full version does not add this green footer
Full version can be ordered from http://www.girdac.com/Products/Buy.htm

इसमें परब्रह्म का लक्षण बताया गया है। वेदान्तदर्शन के '**जन्माद्यस्ययतः**'' सूत्र में जो ब्रह्म का लक्षण कहा है, वही यहाँ उपनिषद् में कहा है। वह परब्रह्म इस सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय का कारण है। उपादान कारण नहीं, प्रत्युत निमित्त कारण। जैसे घट के निर्माण में कुम्भकार निमित्त कारण है, और मिट्टी उपादानकरण, वैसे ही सृष्टि-रचना में ब्रह्म निमित्त कारण है और प्रकृति उपादान कारण। ब्रह्म सृष्टि का उपादान कारण इसलिए नहीं है, क्योंकि सृष्टि में ब्रह्म के गुण नहीं हैं। उपादान कारण के कार्य में गुण अवश्य ही आते हैं।

इस मंत्र में यही बताया है, वह परब्रह्म ही सब भूतों की रचना करता है। इसको जीवित-बनाए रखता है और प्रलय काल में कारण में लीन भी करता है।

उपनिषदों का जहाँ इतना अधिक महत्त्व है, वहाँ इनकी मिथ्या व्याख्याओं के द्वारा अनेक व्याख्याताओं ने मिथ्या मान्यताओं का भी प्रचार कम नहीं किया है। महर्षि-दयानन्द ने उन सिद्धान्त-सम्बन्धी त्रुटियों की कुशल चिकित्सक की भांति बहुत ही सूक्ष्मता से परखा था और अपने सत्य भाष्य द्वारा उनका समूल, खण्डन भी किया।इन मिथ्या मान्यताओं के जी मूल स्तम्भ मंत्र थे। उनकी तो महर्षि ने सप्रमाण व्याख्या करके उत्तर दिया है।

किन्तु महर्षि के अनुयायी महर्षि के भाष्य को पढ़ जाते हैं, और दूसरे शंकरभाष्यादि को श्रद्धा से पढ़ जाते हैं। सूक्ष्म विवेकशक्ति न होने से सत्यासत्य का निर्णय नहीं कर पाते। इन उपनिषद् अंकों को निकालने का हमारा उद्देश्य यह है कि पाठक समीक्षात्मक ढंग से सभी व्याख्याकारों के विचारों से परिचित हो सकें और ऊहापोह के द्वारा सत्यासत्य का निर्णय कर सकें हमने इन उपनिषद् अंको में महर्षि दयानन्द कृत उपनिषद् भाष्य को रखा है। यद्यपि महर्षि ने समस्त उपनिषदों का भाष्य नहीं किया है पुनरनि उप के ग्रन्थों में उपनिषदों के जो प्रमाण विद्यमान हैं, उन्हीं का यहाँ क्रमशः संग्रह किया है। हमें इस बात की प्रसन्नता है कि ईशावास्योपनिषद् सब उपनिषदों का आधार तथा प्रमुख है और इसका ही अधिक पठन-पाठन भी है। साथ ही मिथ्या मान्यताओं का अधिक प्रचार भी इसी के द्वारा किया गया है। क्योंकि यह उपनिषद् यजुर्वेद का ४० वाँ ही अध्याय है, केवल कहीं२ पाठभेद है, महर्षि दयानन्द का इस पर पूर्ण भाष्य उपलब्ध है। यद्यपि ईशावास्योपनिषद् तथा यजु० के ४० वे अध्याय में कुछ मन्त्रों में क्रम-भेद भी है। हमने इसमें यजुर्वेद के अनुसार ही मन्त्रों का क्रम रखा है। क्योंकि महर्षि दयानन्द का यजुर्वेद मन्त्रों पर ही भाष्य है। हमने उस क्रम को भंग करना उचित नहीं समझा। और जहाँ-जहाँ इनमें पाठभेद हैं, वहाँ-वहाँ उनके विषय में लिखा जाएगा। और महर्षि कृत उपनिषद् प्रमाणों का क्रमशः प्रकाशन किया जाएगा आशा है कि पाठक उपनिषदों से फैले मिथ्या प्रचार से बचकर इनके महत्त्व को समझेंगे और अपने जीवन को उत्कृष्ट बना सकेंगे।

दया धर्मस्य मूलं हि, द्रोहः पापस्य कारणम्।
तावद् दया न त्यक्तव्या, यावत्प्राणाः शरीरके।

अर्थ- दया धर्म का मूल है, और दूसरे प्राणियों से द्रोह-पीड़ा पहुँचाना ही पाप का मूल है। इसलिए जब तक शरीर में प्राण हैं, तब तक दया का त्याग नहीं करना चाहिए।

दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान।
'तुलसी' दया न छोड़िए, जब तक घट में प्राण।।

This document is created by GIRDAC PDF Creator Pro trial version
GIRDAC PDF Creator Pro full version does not add this green footer
Full version can be ordered from http://www.girdac.com/Products/Buy.htm

मानव की आयु-विषयक सत्यविचार

❑ स्वर्गीय पं. राजवीर शास्त्री......✍

मानव की आयु को निश्चित मानने वाले इस बात का स्पष्ट रूप से विरोध करते हैं कि इस जन्म के कर्मो का फल इस जन्म में भी मिलता है। परन्तु उनकी यह मान्यता वेद-विरूद्ध, शास्त्र-विरूद्ध तथा प्रत्यक्ष-विरूद्ध भी है। इसमें वेदादि-शास्त्रों के प्रमाण देखिये-

(१) **असुर्या नाम तो लोका ऽ अन्धेन तमसावृताः।**
ताँस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ।।
(यजु० ४० । ३)

अर्थ- जो (लोकाः) लोग (अन्धेन) अन्धकाररूप (तमसा) अज्ञान के आवरण से (आवृताः) सब ओर से ढके हुए (ये, के, च) और जो कोई (आत्महनः) आत्मा के विरूद्ध आचरण करनेहारे (जनाः) मनुष्य है (ते) वे (असुर्याः) अपने प्राण-पोषण में तत्पर, अविद्या आदि दोषों से युक्त लोगों एवं सम्बन्धियों के सदृश पापकर्म करने वाले (नाम) प्रसिद्ध हैं (ते) वे (त्य) मरने के पीछे (अपि)-जीते हुये भी (तान्) उन दुःख और अज्ञानरूप अन्धकार से युक्त भोगों को (गच्छन्ति) प्राप्त होते हैं।। (महर्षि-दयानन्दभाष्य)

इस मन्त्र में 'प्रेत्य' तथा 'अपि' पद ध्यान देने योग्य हैं जिनसे स्पष्ट है कि वर्तमान जन्म के पाप-कर्मो का फल इस जन्म में भी प्राप्त होता है। इस मन्त्र के भावार्थ में ऋषि-दयानन्द जी लिखते हैं-'ये च...... आर्या सौभाग्यवन्तोऽखिलजगत् पवित्रयन्त इहाऽमुत्राऽतुलं सुखममश्नुवते' और जो दुष्ट मनुष्यों से भिन्न आर्य-पुरूष हैं, वे सौभाग्यशाली जन इस जगत् को पवित्र करते हुये इस लोक तथा परलोक में अनुपम सुख को प्राप्त करते हैं।।

(२) **कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत समाः** तथा इस मंत्र की व्याख्या, भावार्थ दोनों ही द्रष्टव्य है। ऋषिवर लिखते हैं-'मनुष्य (इह) इस संसार में (कर्माणि) धर्मयुक्त, वेदोक्त, निष्काम कर्मो को (कुर्वन्नेव) करता हुआ ही (शतम्) सौ (समाः) वर्ष (जिजीविषेत्) जीने की इच्छा करे।।

भावार्थ - ''मनुष्या आलस्यं विहाय शुभानि कर्माणि कुर्वन्तोऽशुभानि त्यजन्तो ब्रह्मचर्येण विद्यासुशिक्षे प्राप्योपस्थेन्द्रियनिग्रहेण वीर्यमुन्नीयाऽल्पमृत्युं घ्नन्तु, युक्ताहारविहारेण च शतवार्षिकमायुः प्राप्नुवन्तु। 'यथा यथा मनुष्याः सुकर्मसु चेष्टन्ते, तथा तथैव पापकर्मतो बुद्धिर्निवत्तते, विद्याऽऽयुः सुशीलता च वर्धते।। अर्थात् मनुष्य लोग आलस्य को छोड़कर शुभकर्मो को करते हुये और अशुभ-कर्मो को छोड़ते हुये, ब्रह्मचर्य के द्वारा विद्या और उत्तम शिक्षा को प्राप्त करके उपस्थ-इन्द्रिय के संयम से वीर्य को बढ़ाकर **अल्पायु में मृत्यु को हटावें** और युक्ताहार-विहार से सौ वर्ष की आयु को प्राप्त करें। जैसे-जैसे मनुष्य श्रेष्ठकर्मो की ओर बढ़ते हैं, वैसे-वैसे पापकर्मो से उनकी बुद्धि हटने लगती है। जिसका फल यह होता है कि-बुद्धि, आयु और सुशीलता आदि गुणो की वृद्धि होती है''।

यहाँ महर्षि ने ब्रह्मचर्य-पालन, युक्ताहार-विहार तथा शुभकर्मो से आयु की वृद्धि मानी है। और अल्पायु में मृत्यु से बचने का उपाय बताया है।

(३) **त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम्।**
यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नोऽअस्तु त्र्यायुषम्।।
(यजु० ३। ६२)

इस मन्त्र का देवता रूद्र=ईश्वर है। इसमें ईश्वर से प्रार्थना की गई हैं- ''हे रूद्र-जगदीश्वर! आपकी कृपा से (यत्) जैसी और जितनी (देवेषु) विद्वानों में (त्र्यायुषम्) बाल्य, यौवन, वार्धक्य, ये सुख देने वाली अवस्थायें हैं और (जमदग्नेः) जगत् के द्रष्टा एवं ज्ञाता (त्र्यायुषम्) ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, इन तीन गुणों

This document is created by GIRDAC PDF Creator Pro trial version
GIRDAC PDF Creator Pro full version does not add this green footer
Full version can be ordered from http://www.girdac.com/Products/Buy.htm

से युक्त सुखप्रद आयु (कश्यपस्य) आप आदित्य ईश्वर की व्यवस्था से प्राप्त (त्र्यायुषम्) विद्याा, शिक्षा, और परोपकार इन तीन गुणों से युक्त जो आयु है (तत्) वैसी और उतनी ही (त्र्यायुषम्) पूर्वोक्त तीनों गुणों वाली आयु (नः) हमें प्राप्त हो''।। (महर्षि-दयानन्दभाष्यम्)

'हे जगदीश्वर! आपके अनुग्रह से हमारे प्राण आदि अन्तः करण और आँखादि सब इन्द्रियों की (३००) तीन सौ वर्ष तक उमर बनी रहे (यद्देवेषु) सो जैसी विद्वानों के बीच में विद्यादि शुभगुण और आनन्दयुक्त उमर होती है (तन्नो अस्तु०) वैसी ही हम लोगों की भी हो तथा (त्र्यायुषं जमदग्नेः०) इत्यादि उपदेश से यह भी जाना जाता है कि मनुष्य ब्रह्मचर्यादि उत्तम-नियमों से त्रिगुण, चतुर्गुण आयु कर सकता है अर्थात् (४००) **चार सौ वर्ष तक भी सुखपूर्वक जी सकता है'।**

(ऋ० भू० वेद-संज्ञाविचार)

इस मन्त्र में श्रेष्ठकर्मो से आयु-वृद्धि करने का स्पष्ट उपदेश हैं। जिससे सिद्ध होता है कि वर्त्तमान जन्म के कर्मो का फल भी इस जन्म में मिलता है।

(४) **शुद्ध अन्न, जल के सेवन से आयु बढ़ती है-**

दीर्घामनु प्रसितिमायुषे धां देवो वः सविता०।।

(यजु० १। २०)

इस मन्त्र-भाग की व्याख्या में महर्षि लिखते हैं- 'जो यह यज्ञ से शुद्ध किया हुआ (धान्यम्) पुष्टिकारक रोग-नाशक एवं स्वादिष्टतम होने से सुख कारक अन्न है, और जो यज्ञ से शुद्ध किया हुआ (पयः) शुद्ध अन्न और जल है, वह (दीर्घम्) दीघ (आयुषे) पूर्ण आयु की वृद्धि से सुखभोग के लिये धारण करो।

(५) **संयम करने से आयु बढ़ती है-**

शतं हिमाः सूर्यस्यावृतमन्वावर्ते।। (यजु० २। २७)

इस मन्त्र की व्याख्या में महर्षि ने शतपथ ब्राह्मण का प्रमाण दिया है- 'भूयांसि शताद् वर्षेभ्यः पुरूषो जीवति ' (श० १। ७। ४। १९) देकर लिखा है- 'सौ वर्ष तक जीवें और जितेन्द्रियता से सौ वर्ष से अधिक भी सुखपूर्वक जीवन का उपभोग करें'।

(६) **आयुर्दा ऽ अग्ने ऽ स्यायुर्मे देहि।।**

(यजु० ३। १७)

इस मन्त्र की व्याख्या करते हुये महर्षि (आर्याभि० २।३३ में) लिखते है- 'हे सर्वरक्षकेश्वराग्ने! तू हमारे शरीर का रक्षक है, सो शरीर को कृपा से पालन कर। हे महावैद्य! आप आयु (उमर) को बढ़ाने वाले हो, मुझको सुखरूप उत्तमायु दीजिये।

(७) **आयु-वृद्धि के वर्त्तमान जन्म के कारण-**

मा म ऽ आयुः प्रमोषीः।। (यजु० ४। २८)

(भावार्थ में) - 'सब मनुष्य शुद्धकर्म और बुद्धि से वाग्विद्या और विद्युद् विद्या को ग्रहण करके आयु को बढ़ाकर सदा सुखी रहें'।

(८) **वर्चोदा वर्चसे पवस्वायुषे मे।।** (यजु० ७। २७)

इस मन्त्र में कहा है-हे विद्वान पुरूष ! तू दीर्घ-आयु और उसके लिये रोगापहारी औषध को स्वयं प्राप्त कर।

(९) **मा न आयुः प्र मोषीः।।** (ऋ० १। २४। ११)

(भावार्थ में) - सर्वदा ईश्वर की आज्ञा-पालन और उनके रचे हुये जो सूर्यादि पदार्थ है, उनके गुणों को जानकर, उनसे उपकार लेके अपनी उमर निरन्तर बढ़ानी चाहिये।

(१०) **मा नो मध्य रीरिषतायुर्गन्तोः।।** (ऋ० १। ८९। ९)

इस मन्त्र में कहा है- विद्वान् पुरूष शुभाचरण से आयु को बीच में ही नष्ट न होने देवें। और शुभकर्मो से आयु को बढावें ।

(११) **देवा न आयु प्रतिरन्तु जीव से ।।** (ऋ० १। ८९। २)

विद्वान् लोग ब्रह्मचर्यादि की सुशिक्षा से हमारी आयु को बढ़ावें।

(१२) **मा नस्तोके तनये मा ऽ आयुषि।।**

(यजु० १६। १६)

(भावार्थ में)- बाल्यावस्था में विवाह करके व्यभिचार से आयु की हिंसा न करें।

(१३) **भूयश्च शरदः शतात्।।** (यजु० ३६। २४)

उसी परमेश्वर की आज्ञा पालन और कृपा से सौ वर्षो के उपरान्त भी देखें, जीवें, सुनें, सुनावें और स्वतन्त्र

This document is created by GIRDAC PDF Creator Pro trial version
GIRDAC PDF Creator Pro full version does not add this green footer
Full version can be ordered from http://www.girdac.com/Products/Buy.htm

रहें। (पञ्चमहायज्ञ०)

(१४) **ज्योक् ते संदृशि जीव्यासम्।।**

(यजु० ३६। १६)

(भावार्थ में)- मनुष्य ईश्वर की आज्ञा का पालन और युक्त आहार विहार से सौ वर्ष पर्यन्त जीवें।।

(१५) **तन्म ऽ आ बध्नामि शतशारदायायुष्माञ्जर-दष्टिर्यथासम्।।** (यजु० ३४।५२)

(भावार्थ में) - जो दीर्घब्रह्मचर्यपूर्वक विद्वानों से विद्या और सुशिक्षा को ग्रहण करके तदनुकूल वर्त्ताव करते हैं, वे अल्पायु कभी नहीं होते।

(१६) **ब्रह्मचर्य के पालन से आयु बढ़ती है-**

यो विभर्त्ति दाक्षायणं हिरण्यं स देवेषु कुणुते।

दीर्घमायुः स मनुष्येषु कृणुते दीर्घमायुः ।।

(यजु० ३४ ।५१)

अर्थ- जो (हि) निश्चय से (एतत्) उस (दाक्षायणम्) दक्ष=चतुरजन से प्राप्त करने योग्य (हिण्यम्) ज्योतिर्मय ब्रह्मचर्य को (विभर्ति) धारण करता है (सः) वह (देवेषु) विद्वानों में (दीर्घम) लम्बी (आयुः) आयु को (कृणुते) प्राप्त करता है (सः) वह (मनुष्येषु) मननशील मनुष्यों में (दीर्घम्) लम्बी (आयुः) आयु को (कृणुते) प्राप्त करता है।। (महर्षिकृतभाष्यम्)

(१७) अकालमृत्यु-विषयक मन्त्र तथा ऋषि-दयानन्द की व्याख्या-

त्वं च सोम नो वशो जीवातुं न मरामहे।

प्रियस्तोत्रो वनस्पतिः।। (ऋ० १। ९१। ६)

हे (सोम) सत्कर्मसु प्रेरकप्रेरको वा यतः (त्वम्) अयम् (च) समुच्चये (नः) अस्माकम् (जीवातुम्) जीवनम् (वशः) वशित्वगुणप्रापकः (प्रियस्तोत्रः) प्रियं प्रति प्रियकारि स्तोत्रं गुणस्तवनं यस्य सः (वनस्पतिः) सम्भक्तस्य पदार्थ-समूहस्य जङ्गलस्य वा पालकः श्रेष्ठतमो वा भवसि भवति वा, तदेतद् द्वयं विज्ञाय वयं सद्यः (न) निषेधार्थे (मरामहे) **अकालमृत्युं क्षण भंगदेहे प्राप्नुयाम्।।**

भाषार्थ- हे (साम) श्रेष्ठ कामों में प्ररेणा देने वाले परमेश्वर अथवा जो श्रेष्ठ कामों में प्रेरणा देता है, (त्वम्) सो आप और यह (नः) हम लोगों के (जीवातुम्) जीवन को (वशः) वश होने के गुणों को प्राप्त कराने वाले (प्रियस्तोत्रः) जिसके गुणों की स्तुति प्रिय के प्रति प्रिय करने वाली है, वह (वनस्पतिः) सेवनीय पदार्थो का पालक अथवा यह सोम जङ्गली ओषधियों में श्रेष्ठतम है, इन दोनों को जानकर हम लोग शीघ्र (न मरामहे) (महर्षि ने स० प्र० में द्वादश समु० में जैनियों के मत का खण्डन करते हुये लिखा है- 'जो भूखा प्यासा मरना ही चारित्र है तो बहुत से मनुष्य अकाल वा जिनको अन्नादि नहीं मिलते, भूखे मरते है,वे शुद्ध होकर०' । अतः अन्नादि के न मिलने पर भी मनुष्यों की मृत्यु होती हैं।) **क्षणभंगुर देह में अकालमृत्यु न प्राप्त करें।।**

भावार्थ- इस मन्त्र में श्लेषालंकार हैं। जो मनुष्य ईश्वर की आज्ञापालन करनेहारे विद्वानों और औषधियों का सेवन करते हैं, वे पूर्ण आयु को प्राप्त करते हैं।

(१८) **अग्न ऽ आयूंषि पवस ऽ आ सुवोर्जमिषं च नः । आरे बाधस्व दुच्छुनाम्।।** (य० ३५ ।१६)

इस मन्त्र के भावार्थ में महर्षि लिखते हैं- ''जो मनुष्य दुष्ट आचरण और दुष्टों के संग को छोड़कर परमेश्वर और आप्त विद्वानों की सेवा करते हैं, वे धन- धान्य से युक्त होकर दीर्घायु होते हैं'' ।।

(१६) **उत्तिष्ठ ब्रह्मण स्पते देवान् यज्ञेन वर्धय।**

आयुः प्राणं प्रजां पशून् कीर्तिं यजमानं च वर्धय।।

(अथर्व ०१६.६३.१)

इस मन्त्र मे वर्त्तमान जन्म की आयु, पशु, प्रजा, कीर्ति और यजमान को बढ़ाने का स्पष्ट निर्देश हैं।

(२०) **स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्ता पावमानी द्विजानाम्।आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम्। मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्।।**

(अथर्व० १९. ७१. १)

इस मन्त्र का अर्थ करते हुये श्री पं० क्षेमकरणदास जी त्रिवेदी लिखते हैं-

पदार्थ- (वरदा) वर देने वाली (वेदमाता) ज्ञान की

This document is created by GIRDAC PDF Creator Pro trial version
GIRDAC PDF Creator Pro full version does not add this green footer
Full version can be ordered from http://www.girdac.com/Products/Buy.htm

माता वेदवाणी (मया) मुझसे (स्तुता) स्तुति की गयी है (पावमानीम्) शुद्ध करने वाले [पावमानीम्] शुद्ध करने वाले [परमात्मा] का बताने वाली [वेदवाणी]को (द्विजानाम्) द्विजों [ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों] में (प्रचोदयन्ताम्) आगे बढ़ाव [हे विद्वानों] (आयु:) जीवन (प्राणम) प्राण (आत्मबल) (प्रजाम्) प्रजा (पशुम) पशु (कीर्त्तिम्) कीर्ति (द्रविणम्) धन और (ब्रह्मवर्चसम्) वेदाभ्यास का तेज (दत्वा) देकर [हमें] (ब्रह्मलोकम्) ब्रह्मलोक [वेदज्ञों के समाज] में (व्रजत) पहुँचाओ।

इस मन्त्र के अर्थ में वर्त्तमान जन्म की आयु के लिये प्रार्थना विद्वानों से की गई हैं। और 'व्रजत' क्रिया को ण्यन्त मानकर ही अर्थ किया गया हैं। इस मन्त्र पर कालाकाल-शास्त्रार्थ में संवाद होता रहा है, अत: मन्त्रार्थ का मनन करके सत्यासत्य का निर्णय करना चाहिये।

मन्त्रार्थो पर विचार-

क्या परमात्मा के द्वारा आयु निश्चित की जाती है?

क ई वेद सुते सचा पिबन्तं कद्वयोदधे।
अयं य: पुरो विभिनत्त्योजसा मन्दान: शिष्यन्धस:।।

ऋग्वेद- मं. ८सू० ३३ मं० ७ इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार किया हैं-

(अयं० यह (य:) जो (शिप्री) सुमुख सेनाध्यक्ष (अन्धस:) अन्न आदि भोग्य पदार्थो से (सुते) उत्पन्न रस से (मन्दान:) तृप्त हो उत्पन्न बल से बली बनकर (ओजसा) पराक्रम के द्वारा (पुर:) शत्रुओं व शत्रुभूत दुर्भावनाओं की दुर्ग-रचनाओं को (वि-भिनत्ति) नष्ट-भ्रष्ट कर डालता है (ई) उसको कौन जानता है (सचा) साथ ही (पिबन्त) पिया हुआ (वय:) प्राण (कत्) कितना है, यह भी कौन जानता हैं?

(श्री पं० आर्यमुनि तथा श्री पं० शिवशंकर कृत भाष्य से)

अथर्ववेद का० २० सू० ५७ मं० ११ में मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है- (क:) कौन (सचा) नित्य मेल के साथ (सुते) तत्त्व-रस (पिबन्तम्) पीते हुए (ईम्) प्राप्तियोग्य [सेनापति] को (वेद) जानता हैं? (कत्) कितना (वय:) जीवन-सामर्थ्य [पराक्रम] (दधे) वह रखता है? (अयं) यह (य:) जो (शिप्री) दृढ़ जबड़े वाला (अनधर्स:) अन्न का (मन्दान:) आनन्द देने वाला [वीर] (ओजसा) बल से (पुर:) दुर्गों को (विभिनत्ति) तोड़ देता हैं।

(श्री क्षेमकरणदास त्रिवेदीकृत भाष्य से)

सामवेद- (मन्त्रसंख्या १६९६, उत्तरार्चिक खं० ३ अ० १८) में मन्त्रार्थ इस प्रकार किया है- (क:) प्रजापति परमेश्वर (ईम्) इसको (वेद) जानता है (सुते) उत्पन्न संसार में (सचा) शरीर और इन्द्रियों के साथ (पिबन्तम्) उपभोग करते हुए (कत्) कितनी (वय;) आयु (दधे) धारण करता है (अयं) यह (य:) जो (पुर:) नगरी या समूह को (विभिनत्ति) भेदन करता है (ओजसा) अपने ओज से (मन्दान:) सुखस्वरूप (शिप्री) द्यौ और पृथिवी-लोक का स्वामी (अन्धस:) अन्धकार की। (श्री आचार्य वैद्यनाथ कृत भाष्य से)

सामवेद- के ही (पूर्वार्चिक मं० सं० २९७, अ० ३ मं० ५) मन्त्र का अर्थ श्री वैद्यनाथ जी शास्त्री ने पूर्वतत् ही किया है।

समीक्षा- 'कालाकालमृत्यु' शास्त्रार्थ में निश्चित आयु के पक्ष को मानने वाले एक भी वैदिक प्रमाण नहीं दे सके। और अब दूसरे लेखक प्रमाण देने लगे है, वे भी ऋषि दयानन्द कृत वेद-भाष्य के प्रमाण न देकर अनृषिकृत वेद-भाष्यों का सहारा ढूँढते फिरते हैं। श्री पं० फूलचन्द्र जी शर्मा ने भी उपर्युक्त एक ऐसा ही वेद-मन्त्र रूप प्रमाण में प्रस्तुत किया है। उनसे हमारा विनम्र निवेदन है कि वाद के नियम के अनुसार प्रमाण तथा युक्ति से स्वपक्ष का मण्डन तथा परपक्ष के प्रमाणों का खण्डन भी करना चाहिए। परन्तु उन्होंने किसी भी विपक्ष के प्रमाण पर विचार नहीं किया है। जबकि (ऋ० १ । ९१। ६) मन्त्र के भाष्य में ऋषि दयानन्द ने 'अकालमृत्यु' को स्पष्ट स्वीकार किया है। और (यजु०

This document is created by GIRDAC PDF Creator Pro trial version
GIRDAC PDF Creator Pro full version does not add this green footer
Full version can be ordered from http://www.girdac.com/Products/Buy.htm

४०।३) मन्त्र-भाष्य में वर्त्तमान जन्म के कर्मो का फल वर्त्तमान जन्म में भी मिलना माना है जो ऋषि के लेखों को प्रमाण मानते है और उन्हें आप्त पुरूष मानते है, उन्हें ऋषि के भाष्य पर भी अवश्य विचार करना चाहिये।

लेखक ने जो यह मन्त्र प्रस्तुत किया है उस पर ऋषि कृत भाष्य नहीं मिलता, जो यथार्थ निर्णय कर सके। और विद्वानों के भाष्य हमने ऊपर उद्धृत किये हैं। इन भाष्यों में तीन विद्वानों ने समस्त मन्त्र का अर्थ सेनापति-परक किया है, तथा एक विद्वान् के अर्थ को लेखक ने स्वपक्ष में अपनाया है। इस मन्त्रार्थ में हमें कतिपय दोष दिखायी देते हैं जैसे-मन्त्र का देवता 'इन्द्र' है। यद्यपि इन्द्र] के जीवात्मा, परमात्मा, सुर्य, सेनापति आदि अनेक अर्थ होते हैं। परन्तु प्रसङ्ग] के अन्तर्गत होकर एक ही अर्थ का प्रतिपादन हो सकता है। क्योंकि देवता मन्त्र का प्रतिपाद्य विषय होता है, अत: 'इन्द्र' का जो भी अर्थ समस्त मन्त्रार्थ से संगत हो, वही करना चाहिये। श्री पं० शिवशंकर आदि विद्वानों ने समस्त मन्त्र का अर्थ सेनापति परक करके इस नियम का पालन किया है। परन्तु श्री आचार्य वैद्यनाथ जी शास्त्री के मन्त्रार्थ में यह संगति नहीं है। मन्त्र का पूर्वार्द्ध यदि जीवात्मा-परक है तो उत्तरार्द्ध परमात्मा-परक किया हैं और उत्तरार्द्ध भाग में 'विभिनत्ति' एक ही क्रिया है, इसका कर्त्ता परमात्मा माना है और 'कयो दधे' का कर्त्ता जीवात्मा, यह वेदभाष्य की पद्धति से विपरीत होने से ठीक नहीं।

और लेखक द्वारा उद्धृत मन्त्रार्थ में कयो दधे=कितनी आयु धारण करता है, आया है, इस पर विचार करने से भी लेखक का पक्ष सिद्ध नहीं होता। क्योंकि जीव जो कर्म करता है, और तदनुसार जो आयु तथा भोग प्राप्त करता है, वह सब ईश्वर जानता ही है। परन्तु पहले से नहीं। देखिये इसमें ऋषि का प्रमाण 'जीवों के कर्म की अपेक्षा से त्रिकालज्ञता ईश्वर जानता है।'

(स० प्र० सप्तम०)

इससे स्पष्ट है कि जीव कर्म कर चुका अथवा करना चाहता है, उसे ईश्वर सर्वज्ञता से जानता है, परन्तु भविष्य में जीव क्या करेगा, इसे ईश्वर पहले से ही जानता है, यह सत्य नहीं। इसी प्रकार कृत कर्मो का क्या-क्या फल जीवों को देना है, यह ईश्वर जानता है, परन्तु भविष्य के कर्मो को नहीं। पूर्वजन्म के कर्मो के अनुसार जन्म, आयु, भोग ईश्वर की व्यवस्था से मिलते हैं, और वे कर्म (२। १३) योग-भाष्य के अनुसार जन्म, आयु तथा भोग देने से त्रिविपाक कहलाते हैं। परन्तु जो दृष्टवेदनीय कर्म=वर्त्तमान जन्म के कर्म हैं वे द्विविपाक=आयु, भोग के कारण अथवा एक विपाक=केवल भोग देने वाले भी होते हैं। और अदृष्टजन्मवेदनीय कर्मो के फल में भी निश्चितता नहीं हैं। इसमें प्रमाण देखिये-'**धीरे-धीरे अधर्म कर्त्ता के सुखों को रोकता हुआ सुख के मूलों को काट देता है,** पश्चात् अधर्मी दु:ख ही दु:ख भोगता है। (सं० वि० गृहाश्रम०) यहाँ अधर्मी जिन सुखों को रोकता है, क्या वे ईश्वर-प्रदत्त नहीं है? यदि ईश्वरीय व्यवस्था से प्राप्त सुख-दु:ख रोके जा सकते है, तो आयु का निश्चित होना कैसे सम्भव है ? और ऋषि दयानन्द ने इस सत्य रहस्य को समझकर लिखा है- 'जीव कर्म करने में स्वाधीन और **पापों के फल भोगने में कुछ, पराधीन भी है।** (ऋ० भू० वेदोक्त।) यहाँ 'कुछ पराधीन' शब्द विशेष ध्यान देने योग्य है। अत: मनुष्य की आयु का निर्धारण करना किसी प्रकार से भी सम्भव नहीं हैं।

(१) श्री निडर जी की भांति जलेसर (एटा) निवासी श्री रामशंकर गुप्त ने भी आयु के निर्धारण विषय पर लेखनी उठायी हैं। परन्तु दोनों में महान् अन्तर हैं। श्री निडर जी शास्त्रीय बातों पर मनन करते हैं, ऋषि दयानन्द के वचनों पर दृढ़ आस्था भी रखते हैं। परन्तु गुप्त जी की दशा तो विचित्र ही हैं। स्वयं वेदादि शास्त्रों से अनभिज्ञ होरक ऋषि दयानन्द के लेख का भी खण्डन करने को निराधार उद्यत रहते हैं। शिष्ट-भाषा तो मानो जानते ही नहीं है, ऐसे व्यक्तियों का समझाना सरल बात नहीं है। गुप्त जी ने 'मधुरलोक' में इस विषय में

This document is created by GIRDAC PDF Creator Pro trial version
GIRDAC PDF Creator Pro full version does not add this green footer
Full version can be ordered from http://www.girdac.com/Products/Buy.htm

लेख लिखा है, उसका हमें मई ८२ का ही अंक मिला है, उसमें जो प्रमाण लेखक ने चाणक्यनीति तथा महाभारत के दिये है, उन पर तो यहाँ विचार नहीं किया जा सकता। क्योंकि उनकी प्रामाणिकता निर्भ्रान्त नहीं है। परन्तु वेद तथा दर्शनों के प्रमाण अवश्य विचारणीय है। योगदर्शन के '**सति मूले तद्विपाको०**' सूत्र पर परिशिष्ट भाग से सप्रसङ्ग विस्तृत विश्लेषण किया गया है। उसको बार-बार लिखना उचित नहीं है। अत: सूत्र व्याख्या वहीं द्रष्टव्य है। मन्त्रार्थो पर विचार तथा समीक्षा इस प्रकार हैं-

(२) श्री गुप्त जी भी जब वेदों को निभ्रान्त और ईश्वरीय ज्ञान मानते हैं, तो वेदों के परस्पर विरोध का परिहार भी उन्हें करना चाहिये। यदि परपक्ष के वैदिक प्रमाणो को लेखक बिना विचारे ही छोड़ देता है, तो यह वेदों पर परस्पर विरोध का ही आक्षेप करना मात्र है। लेखक ने अपने विपक्ष के किसी भी प्रमाण पर लेख में विचार नहीं किया है। हमारा उनसे विनम्र निवेदन है कि ऋ० १। ९१। ६ मन्त्र मे भाष्य में ऋषि दयानन्द ने बहुत ही स्पष्ट रूप से अकाल मृत्यु को स्वीकार किया है। और ऋषि ने यजु० ४०। ३ मन्त्र-भाष्य में वर्त्तमान जन्म के कर्मो का फल वर्त्तमान जन्म में भी स्वीकार किया है, जिससे आयु का घटना-बढ़ना सिद्ध होता हैं। इसी प्रकार और भी प्रमाण दिये गये हैं, उन पर भी विचार करके तब अपनी मान्यता को स्पष्ट करना चाहिये। लेखक ने वेदों के ये मन्त्र उद्धृत किये हैं--

(१) **सर्वो वै तत्र जीवति गौरश्वः पुरूषः पशुः।**
यत्रेदं ब्रह्म क्रियते परिधिर्जीवनाय कम्।।
(अथर्व० ८। २। २५)

इस मन्त्र में 'सुख से जीने के लिए ब्रह्म ने परिधि नियत की है' इससे लेखक ने आयु को निश्चित माना है। परन्तु मन्त्र से यह बात सिद्ध नहीं होती कि मन्त्र में आयु को निश्चित माना है। परमेश्वर सुख से जीने की परिधियाँ तो निश्चित करता ही है। समस्त धर्मशास्त्र क्या है? ईश्वरीय धर्मसंयत परिधियों की ही व्याख्या कर रहा है- ऐसा धर्माचरण करोगे तो सुखी रहोगे, अधर्माचरण करोगे तो दु:ख पाओगे। और जो जीव जन्म लेता है, उसकी मृत्यु अवश्य होती है, ईश्वरीय आज्ञाओं का पालन दु:खनाशक है, ईश्वर से विमुख जीव दु:खसागर में ही गोता लगाते रहते है, इत्यादि ईश्वरीय परिधियाँ ही हैं।

(२) **उदुत्तमं वरूण पाशमस्मदवाधमं विमध्यमं श्रथाय०।।** (ऋ० १। २४। १५)

(३) **उदुतमं मुमुग्धिनो विपाशं मध्यमं चृत०।।**
(ऋ० १। २५। २१)

इन दोनों मन्त्रों में उत्तम, मध्यम, तथा अधम त्रिविध दु:ख पाश के बन्धन से छूटकर अदिति=मोक्ष-सुख को प्राप्त करने की प्रार्थना की गई हैं। इन मन्त्रों पर महर्षि का भी भाष्य उपलब्ध होता है। परन्तु लेखक ने उत्तम, मध्यम, निकृष्ट योनियाँ अर्थ किया है। जब मन्त्र में स्पष्ट रूप से विशेष्यपद 'पाशम्' पठित है, तो विशेषण-विशेष्यभाव को न समझकर योनियाँ अर्थ करना और उनसे मुक्ति की प्रार्थना मानकर जहाँ वेदार्थ से अनभिज्ञता प्रकट की है, वहाँ स्वपक्ष का खण्डन कर बैठे। धन्य है गुप्त जी! आपको, जो पूर्वापर का भी ध्यान नहीं रहा। आपके अनुसार सब योनियों की आयु निश्चित है, उनसे समय से पूर्व मोक्ष कैसे हो सकता है? और मनुष्य से भिन्न अधम-योनियों में मोक्ष की प्रार्थना कैसे सम्भव है? क्या अपनी मिथ्या मान्यता के नशे में भूल गये कि मैं उन्मत्तवत्- क्या लिखने लग गया हूँ जो व्यक्ति स्वाभिमान कर रहा है दोनों महान् आत्माओं (श्री स्वामी दयानन्द और स्वामी दर्शनानन्द) जिनके पैर की धोवन के बराबर भी आपकी और वेदव्रत जी की योग्यता नहीं है।' (मधुर लोक २७ पृ०) क्या उसे अपनी दयनीय दशा पर भी ध्यान नहीं आया कि मैं वेदों के नाम पर मिथ्या, भ्रान्त व्याख्या करके वेद और ऋषि दयानन्द के सत्य सिद्धान्तों का उपहास कर रहा हूँ? और हम तो उन ब्रह्मा से लेकर जैमिनि पर्यन्त ऋषियों के प्रमाणों से ही अपने पक्ष की पुष्टि कर रहे हैं

This document is created by GIRDAC PDF Creator Pro trial version
GIRDAC PDF Creator Pro full version does not add this green footer
Full version can be ordered from http://www.girdac.com/Products/Buy.htm

जिन्हें ऋषि दयानन्द तथा समस्त उनके अनुयायी मानते हैं। यदि आप में लेश मात्र भी हिम्मत है अथवा ज्ञान-विज्ञान का स्वाभिमान हैं, तो उनका सप्रमाण खण्डन कीजिये। और 'सति मूले०' सूत्र तथा व्यासभाष्य से आपकी तो बात ही क्या हैं, कोई भी निष्पक्ष विद्वान् आयु को निश्चित सिद्ध नहीं कर सकता यह हमारा खुला चैलेंज हैं। और जब वेद से आपका पक्ष सिद्ध नहीं होता तो वेद प्रतिकूल किसी भी ग्रन्थ का प्रमाण कैसे माना जा सकता हैं?

लेखक की कुछ, अन्य मिथ्या मान्यतायें भी हैं, जैसे-वर्त्तमान जन्म के कर्मो का फल, इस जन्म में नही मिलता अगली योनियों में मिलता है। ब्रह्मचर्य का पालन, सदाचारादि शिक्षाओं का फल भी इस जन्म में नहीं मिलता, मानव-योनि में जीवों का आधान शतवर्ष से अधिक नहीं, इत्यादि मान्यताओं का उत्तर इस पुस्तक में यथास्थान दिया गया है, अत: उनका पिष्टपेषण करना उचित नहीं। और मानव की शतवर्ष से अधिक आयु का न मानना प्रत्यक्ष के भी विरूद्ध हैं, क्योंकि वर्त्तमान में भी शतवर्ष से अधिक के मनुष्य देखे जाते हैं। ऐसी विकलांग, भ्रान्त, मिथ्या, काल्पनिक मान्यताओं से ग्रस्त व्यक्ति यदि ऋषि दयानन्द के विषय में भी यह कहता है कि उनकी वेदानुकूल बातों को ही मानता हूँ अन्यों को नहीं, तो भी क्या आश्चर्य है? और जब ऋषि की मान्यतायें भी लेखक के विचार से सन्दिग्ध हैं, तो उनका लेखक प्रमाण भी क्यों देते हैं? क्या यह अर्धजरतीय न्याय के तुल्य निन्दनीय नहीं है? और श्रीयुक्त स्वामी ओ३म् प्रेमी चतुर्थाश्रमी, गुरूकुल होशंगाबाद (म० प्र०)) ने एक लेख भेजा है, जिसका शीर्षक है-'**क्या आयु की समाप्ति का समय निश्चित नहीं है?** हम उनके समस्त लेख को न छापकर प्रमुख आक्षेपों का ही यहाँ उत्तर प्रकाशित कर रहे हैं--

(१) जब तक कोई आधारभूत सामान्य जीवन-काल निश्चित न हो, तब तक घटना-बढ़ना किस पर से माना जायेगा?

(उत्तर) इस प्रश्न का उत्तर शास्त्रार्थ में ५१ पृ० पर तथा श्री स्वामी सत्यपति जी के लेख में उत्तर दिया है। अत: वहीं द्रष्टव्य हैं।

(२) ब्रह्मचर्यमय महान् जीवन धारण करने वाले महर्षि-दयानन्द आदि का दीर्घजीवन क्यों नहीं हुआ? यदि ब्रह्मचर्य पालन से आयु बढ़ जाती हैं, तो इनकी क्यों नहीं बढी?

(उत्तर) ब्रह्मचर्य का पालन करने से आयु बढ़ती है, इसमें वेद-शास्त्रों के अनेक प्रमाण हैं, जो प्रमाण-भाग में देखे जा सकते हैं। इसमें विशेष रूप से 'त्र्यायुषं जमदग्ने तथा 'यो बिभर्त्ति दाक्षायणं हिरण्यं०' ये दो मन्त्र विशेष द्रष्टव्य हैं। वेद ईश्वरोक्त निर्भ्रान्त ज्ञान है। हम भ्रान्तिग्रस्त हो सकते हैं, वेद में भ्रान्ति नहीं। ऋषि दयानन्द, स्वामी शंकराचार्यदि की मृत्यु जल्दी क्यों हुई? इसमें उनकी मृत्यु के विशेष कारण बने। प्राय: आक्षेपकर्त्ता के मन में यह भ्रान्ति है कि कर्मो का फल और जीवों को सुख-दु:ख ईश्वर ही देता है। परन्तु माता, पिता आचार्य तथा राजादि भी कर्मफल देते है। जीव भी अपने सुख-दु:ख को घटा-बढ़ा लेते है। आधिभौतिक दु:खों में दूसरे जीवों से भी अन्याय, द्वेषादि के कारण सुख-दु:ख मिलता है इस विषय में भी प्रमाणभाग में '**दूसरे जीवों से भी सुख-दु:ख मिलते हैं,** लेख पठनीय है। 'ईश्वर! तेरी इच्छा पूर्ण हो' ऋषि का यह वाक्य निश्चित आयु सिद्ध नहीं करता। यह तो सर्वनियन्ता सर्वशक्तिमान् परमेश्वर को आत्मसमर्पण उसमें दृढ़ आस्था का ही परिचायक है। और अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति की अभिलाषा को इच्छा कहते हैं। परमेश्वर के लिये ईश्वर की इच्छा पूर्ण होने का दूसरा भाव भी क्या हो सकता हैं ? प्रथम तो कोई अप्राप्य वस्तु ही नहीं है और क्या ईश्वर की इच्छा ऋषि की मृत्यु से पूर्व अपूर्ण ही थी। अत: ऐसी अन्यथा भावनायें करना निरर्थक ही हैं। महर्षि-दयानन्द ने सत्यार्थ-प्रकाश में एक स्थान पर लिखा है कि-

'(प्रश्न) परमेश्वर क्या चाहता है? सबका भलाई

This document is created by GIRDAC PDF Creator Pro trial version
GIRDAC PDF Creator Pro full version does not add this green footer
Full version can be ordered from http://www.girdac.com/Products/Buy.htm

और सबके लिये सुख चाहता हैं।' (स० प्र० ७ समु०) अत: सबका भला करना ही ईश्वर की इच्छा पूर्ण करना है। महर्षि ने भी जीवन के अन्तिम समय में यही भाव प्रकट किये थे। यही उनके जीवन का सार था। और महर्षि ने ईश्वरीय इच्छा को स्वयं स्पष्ट करते हुये लिखा है-

(प्रश्न) ईश्वर में इच्छा है वा नहीं ?

(उत्तर) वैसी इच्छा नहीं। क्योंकि इच्छा भी अप्राप्त, उत्तम और जिसकी प्राप्ति से सुख विशेष होवे, जो ईश्वर में इच्छा हो सके, न उसमें कोई पदार्थ। न कोई उससे उत्तम और पूर्ण सुखयुक्त होने से सुख की अभिलाषा भी नहीं है।। इसलिये ईश्वर में इच्छा का तो सम्भव नहीं, किन्तु ईक्षण अर्थात् सब प्रकार की विद्या का दर्शन और सब सृष्टि का करना चाहता है, वह ईक्षण है।' (स० प्र० ७ समु०)

(३) कई नवयुवक अचानक बिना किसी दुर्घटनादि के भी मर जाते हैं, क्या उनकी मृत्यु का समय वह निश्चित नहीं होता ?

(उत्तर) अल्पावस्था में भी मृत्यु के अनेक कारण हो सकते हैं। जैसे कोई ऐसा आन्तरिक रोग हो गया जिसका हमें पता ही न लग सका। अथवा आयुर्वेद के अनुसार स्त्री-पुरूष का अल्पावस्था में संयोग होना 'जातो वा न चिरं जीवेत्' मृत्यु का कारण हो जाता है। अथवा किसी अभक्ष्य पदार्थ के अनजाने में खाने से भी मृत्यु हो सकती है। अथवा शरीर में किसी तत्त्व की कमी भी कारण हो सकती है। आयुर्वेद में सैकड़ों कारणों से मृत्यु होना लिखा है बिना कारण के कार्य कैसे हो सकता है। इसलिए इसका अनुसन्धान तो अवश्य करना चाहिये। परन्तु उनकी आयु इतनी ही निश्चित थी, इस कथन में कोई प्रमाण न होने से सच्चाई नहीं है। और महर्षि ने मृत्यु के अनेक कारणों का परिगणन किया है। जैसे-'नविज्ञाते जलाशयें' अर्थात् अज्ञात जलाशय में स्नान करे। अज्ञात गम्भीर जल में जल-जन्तु वा अन्य पदार्थ से दु:ख और डूबकर मरने का भी भय होता है। और बच्चों को आभूषणदि भी धारण न करायें, क्योंकि उनसे चोरादि के द्वारा मृत्यु का भय रहता है। और स्वार्थी व्यक्ति स्वार्थवश होकर अन्याय से सज्जनों को दु:ख देते हैं और मृत्यु का भी कारण बन जाते हैं। इसलिये ऐसे चौरादि से जो राजा प्रजा की रक्षा नहीं करता, वह मृतक तुल्य ही होता है। मनु जी लिखते हैं-

विक्रोशन्त्यो यस्य राष्ट्राद्ध्रियन्ते दस्युभिः प्रजाः।
सम्पश्यतः सभृत्यस्य मृतः सः न तु जीवति।।
(मनु०)

'जिस भृत्य सहित देखते हुए राजा के राज्य में से डाकू लोग रोती विलाप करती प्रजा के पदार्थ और प्राणों को हतरे रहते है, वह जानो भृत्य, अमात्यसहित मृतक है, जीता नहीं।' (स० प्र० ६ समु०)

इसलिए दुर्जन व्यक्तियों के कारण भी जीवों को अन्याय से जो सुख-दु:ख दिया जाता है, उसे कर्मो का फल नहीं कहा जा सकता अन्यथा महर्षि मनु दुष्टजनों को दण्ड देने का विधान नहीं करते। महर्षि दयानन्दादि ब्रह्मचारी थे, इसमें किसी प्रकार का सन्देह न होते हुए भी स्वार्थी, कुलक्षणी व्यक्ति उनकी अकाल मृत्यु के ही कारण बन गये, अन्यथा उनका जीवन दीर्घजीवी अवश्य होता।

विपक्ष का एक मात्र सम्बल तथा बार-बार उद्धृत

योगदर्शन के सूत्र पर विचार

मानव की आयु निश्चित मानने वाले प्राय: योगदर्शन के (२। १३) **'सति मूले तद्विपको जात्यायुर्भोगाः'** सूत्र को बार-बार उद्धृत करते रहे है। उनके मत-अनुसार मानव की जाति=जन्म, आयु तथा भोग का निमित्त पूर्वजन्मसञ्चित कर्माशय है।परमेश्वर पूर्वजन्म के कर्मानुरूप जन्म, आयु तथा भोगों का निर्धारण कर देता है और जीव उस निश्चित जन्म को पाकर निश्चित आयु तथा भोगों को भोगता रहता है। जीव का यह सामर्थ्य नहीं है कि वह परमेश्वर द्वारा निर्धारित आयु एवं भोगों में परिवर्तन अथवा परिवर्धन कर सके।

परन्तु उन्होंने इस सूत्र के रहस्य को नहीं समझा है।

This document is created by GIRDAC PDF Creator Pro trial version
GIRDAC PDF Creator Pro full version does not add this green footer
Full version can be ordered from http://www.girdac.com/Products/Buy.htm

यह तो उभय पक्ष सम्मत है कि जीवों का मुख्य रूप से कर्मफल परमेश्वर की व्यवस्था से मिलता है। और यह भी निश्चित है कि प्रत्येक जीव का जन्म पूर्वजन्मों के फलोन्मुख कार्मानुरूप ही होता है। यदि यह सर्वमान्य है तो एक ही सूत्र में कहे जन्म की भांति आयु तथा भोग को निश्चित क्यों नहीं माना जाता? यह ही निश्चित आयु मानने वालों का महातर्क है। किन्तु सूत्र-शैली को यदि समझा जाता तो इस शंका का सर्वथा समाधान मिल जाता। उदाहरणस्वरूप वैशेषिक दर्शन के **'क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम्'** (अ० आ० १ सूत्र १५) सूत्र के अर्थ पर विचार कीजिये। इस सूत्र में कहा है कि जिसमें क्रिया, गुण, संयोग, वियोग होने का स्वभाव पाया जावे, उसे द्रव्य माना है। पृथिवी, जल, तेज, वायु मन और आत्मा ये छः द्रव्य परिच्छिन्न होने से क्रिया और गुणवाले हैं। इनमें तो सूत्रार्थ सर्वाश में संगत हो जाता ह परन्तु जो द्रव्य विभु-व्यापक हैं, वे संयोग-वियोग के स्वभाव से रहित हैं और व्यापक होने से क्रियावान् भी नहीं है, ऐसे आकाश, काल, दिशा और परमात्मा हैं इनमें सूत्र का एक अंश ही (गुणवान्) संगत होता है, तभी इन्हें भी द्रव्य माना गया है। इस सूत्रशैलि को समझने के लिए महावैयाकरण महर्षि पतञ्जलि ने दो नियमों का महाभाष्य में उल्लेख किया हैं-

(१) **प्रत्येकं वाक्यपरिसमाप्तिः।**

(२) **समुदाये वाक्यपरिसमाप्तिः।।**

अर्थात् वाक्यगत क्रिया की समप्ति कहीं प्रत्येक के साथ होती है और कहीं समुदाय में होती है जैसे-**'देवदत्तब्रह्मदत्तयज्ञदत्ता भोज्यन्ताम्'** ऐसा किसी ने वाक्य बोला। इसमें भुजि क्रिया का सम्बन्ध प्रत्येक के साथ है। देवदत्तादि में प्रत्येक को भोजन करना है। परन्तु दूसरा वाक्य है **'गर्गाः शतं दण्ड्यन्ताम्'** यहाँ समस्त गर्गो पर सौ रूपये जुर्माना किया गया है प्रत्येक गर्ग पर नहीं। इसी प्रकार सूत्र गत पद कहीं समुदाय में चरितार्थ होते हैं और कहीं पृथक्-पृथक्। द्रव्य के लक्षण से भी ये नियम स्पष्ट हो रहे है।

अब यदि कोई ऐसा ही दुराग्रह करने लगे कि सूत्र में गुणवान् और क्रियावान् को ही द्रव्य कहा है, जिसमें ये दोनों लक्षण लक्षित हों वह द्रव्य होता है, तो आकाशादि में द्रव्य का लक्षण न घट सके। ठीक इसी प्रकार योग-दर्शन के सूत्र पर भी ध्यान देना चाहिये। यद्यपि सूत्र में कर्माशय के कारण ही जाति (जन्म) आयु तथा भोग की प्राप्ति माना हैं। सूत्र में पूर्वजन्म का कहीं भी निर्देश नहीं है। क्योंकि जन्म की प्राप्ति तो पूर्वजन्मकृत कर्माशय पर ही आश्रित हो सकती है अतः आयु तथा भोग की प्राप्ति भी पूर्वजन्मकृत कर्माशय पर ही आश्रित क्यों नहीं मानी जाये? यही विवाद का विषय है। इस विवाद का निर्णय सूत्रशैलि तथा ऋषियों की व्याख्या से ही हो सकता है। सूत्रशैली के अनुसार सूत्रगत समस्त पादों में भी समानता नहीं होती उनमें भी कहीं समुदाय रूप में तथा कहीं पृथक्-पृथक् रूप में संगति लगती है, जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया गया है। और इस सूत्र की महर्षि व्यासकृत व्याख्या भी मिलती हैं, जिसका निष्पक्ष अनुशीलन करने से समाधान मिल जाता है।

महर्षिव्यासकृत-सूत्रव्याख्या-

(क) **स च विपाकस्त्रिविधो जातिरायुर्भोग इति।**

अर्थ- अविद्यादि क्लेशमूलक कर्माशय के तीन प्रकार के फल होते हैं- जाति, आयु तथा भोग।

(ख) **तच्च जन्म तेनैव कर्मणा लब्धायुष्कं भवति। तस्मिन्नायुषि तेनैव कर्मणा भोगः सम्पद्यते इति। असौ कर्माशयो जन्मायुर्भोगहेतुत्वात् त्रिविपाकोऽभिधीयत इति। अत एकभविकः कर्माशय उक्त इति।**

अर्थ- कर्माशय तीन प्रकार का होता है। उसमें प्रथम अदृष्ट-जन्म वेदनीय कर्माशय का प्रथम फल कथन करते हैं। जिस कर्माशय के अनुरूप जन्म मिला है, उसी कर्म से आयु तथा उस आयु में उसी कर्म से भोग सम्पन्न होता है। यह कर्माशय जन्म, आयु तथा भोग का हेतु होने से त्रिविपाक वाला कहा जाता है।

This document is created by GIRDAC PDF Creator Pro trial version
GIRDAC PDF Creator Pro full version does not add this green footer
Full version can be ordered from http://www.girdac.com/Products/Buy.htm

इसलिये यह कर्माशय एकजन्म देने वाला कहाता है।

(ग) **'दृष्टजन्मवेदनीयस्त्वेकविपाकारम्भी भोगहेतुत्वाद्, द्विविपाकारम्भी वाऽऽयुर्भोगहेतुत्वाद् नन्दीश्वरवन्नहुषद्वा इति।'**

अर्थ- परन्तु जो कर्माशय दृष्टजन्मवेदनीय=वर्त्तमान जन्म में ही फल देने वाला होता है, वह एकविपाकारम्भी=केवल एक भोग रूप फल देने वाला होता है, केवल भोग का हेतु होने से, और द्विपाकारम्भी भी होता है, आयु और भोग दोनों का हेतु होने से, नन्दीश्वर की भांति अथवा नहुष की भांति।

(घ) **'यस्त्वसावेकभविकः कर्माशयः सः नियतविपाकश्चानियतविपाकश्च'।**

और जो एकभविककर्माशय (अदृष्टजन्मवेदनीय) कह गया है, वह नियत फलवाला और अनियत फलवाला भी होता है।

(ड) **'तत्र दृष्टजन्मवेदनीयस्य नियत-विपाकस्यैवायं नियमो न त्वदृष्टजन्म-वेदनीयस्यानियतविपाकस्य'।**

उनमें दृष्टजन्म में फल देने वाला कर्माशय नियत फल देने वाला होता है। और अदृष्टवेदनीय कर्माशय का फल नियत नहीं होता है'।

व्यास-भाष्य का सार (१) कर्माशय के प्रथम दो भेद हैं 'दृष्टजन्मवेदनीय और अदृष्टजन्मवेदनीय।(२) अदृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय जन्म, आयु तथा भोग का कारण होने से त्रिविपाक कहलाता है। और यह अनियत फल वाला होने से आयु व भोग का निर्धारण नहीं कर सकता। (३) और दृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय नियत फल देता है। (४) दृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय के भी दो भेद हैं- केवल भोग का कारण होने से आयु और भोग का कारण होने से। (५) इसलिये वर्तमान जन्म में आयु और भोग पूर्वजन्मकृत कर्माशय के फल के साथ-साथ वर्त्तमान के कर्मो का फल (आयु व भोग) भी अवश्य मिलता है। उसमें वर्त्तमान के कर्मों का फल (अदृष्टजन्मवेदनीय) नियत फल होने से अवश्य प्राप्ति होती है। और **यो ह्यदृष्टजन्मवेदनीयोऽनियत-विपाकस्तस्य त्रयी गतिः** इस व्यासभाष्य के अनुसार अदृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय की तीन प्रकार गति होती है(क) अविपक्व कर्माशय का नाश, (ख) प्रधान कर्म के साथ अंकुरित रहना। (ग) और प्रधान कर्म से अभिभूत होकर चिरकाल तक पड़े रहना। इस सूत्र के व्यास-भाष्य से स्पष्ट है कि आयु और भोग का पूर्वजन्म के कर्माशय से ही निर्धारण कदापि नहीं हो सकता है।

(यह मोक्ष के अधिकारी योगियों का ही होता है। और यहँ नाश का, अभिप्राय दग्धबीजवत् होने से फलोन्मुख न होना है।)

पूर्वाक्त व्यास-भाष्य की सूत्रकार के साथ भी संगति है- महर्षि शब्द का अर्थ है कि जो यथार्थ द्रष्टा तथा आप्तपुरूष है। वे निर्भ्रान्त सूत्रार्थ का ही कथन करते है और ऋषियों के वचनों में परस्पर विरोध भी नहीं हो सकता हैं इसी तथ्य के अनुरूप महर्षि व्यास की व्याख्या सूत्रकार महर्षि पतञ्जलि के सर्वथा अनुरूप ही है उसमें परस्पर कहीं भी विरोध नहीं है। महर्षि व्यास ने जैसे कर्माशय को दृष्टजन्मवेदनीय और अदृष्टजन्मवेदनीय दो प्रकार का माना है, वैस ही सूत्रकार भी मानते हैं, देखिये-

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मेवेदनीयः।।

(यो० २।१२)

अर्थात् जीवों का कर्माशय अविद्यादि क्लेशों के कारण ही फल देता है। और यह दो प्रकार का हैं- एक दृष्ट=वर्त्तमान जन्म में फल देने वाला और दूसरा अदृष्ट=अग्रिम जन्मों में फल देने वाला। यदि वर्त्तमान जन्म में पूर्वजन्म के कर्माशय से ही आयु व भोगों का निर्धारण हो जाता है, तब तो सूत्र में 'दृष्टजन्मवेदनीय' शब्द निरर्थक हो जाता है। और इस सूत्र की व्याख्या में व्यास ऋषि ने इस बात को और भी अधिक स्पष्ट करते हुए लिखा है-

'तत्र तीव्रसंवेगेन मन्त्रतःसमाधिभिर्निवर्त्तित ईश्वरदेवतामहर्षिमहानुभावानामाराधनाद्वा यः

This document is created by GIRDAC PDF Creator Pro trial version
GIRDAC PDF Creator Pro full version does not add this green footer
Full version can be ordered from http://www.girdac.com/Products/Buy.htm

परिनिष्पन्नः स सद्यः परिपच्यते पुण्यकर्माशय इति। तथा तीव्रक्लेशेन भीतव्याधितकृपणेषु विश्वासोपगतेषु वा महानुभावेषु कृतः पुनः पुनरपकारः स चापि पापकर्माशयः सद्य एव परिपच्यते। यथा नन्दीश्वरः कुमारो मनुष्यपरिणामं हित्वा देवत्वेन परिणतः। तथा नहुषोऽपि देवानामिन्द्रः स्वकं परिणामं हित्वा तिर्यक्त्वेन परिणत इति। तत्र नारकाणां नास्ति दृष्टजन्मवेदनीयः कर्माशयः'।

अर्थात् मंत्र, तप, समाधि के द्वारा सिद्ध और ईश्वर, देवता, महर्षि महानुभावों की आराधना से सिद्ध हुआ पुण्य कर्माशय तुरन्त फल देने वाला होता है और घोर अविद्यादि क्लेशों से ग्रस्त भयभीत रोगी अनुकम्पा करने योग्य अथवा विश्वसनीय तथा तपस्वी प्राणियों के प्रति किया गया पापकर्म तुरन्त फल देता हैं। जैसे- पुण्यकर्मो के कारण नन्दीश्वर कुमार मनुश्यता से ऊपर उठकर देवत्व को प्राप्त हो गया और पापकर्मो के कारण देवों का राजा नहुष अपने देवत्व को छोड़कर कुटिल कर्म करने वाला बन गया। इतनी सुस्पष्ट व्याख्या को भी जो नहीं समझ सके, उसे कौन समझा सकता है? महर्षि व्यास ने 'सति मूले०' (२।१३) सूत्र की व्याख्या में अनियतविपाक वाले पूर्वजन्म के फलों को अनिश्चित बताते हुए स्पष्ट लिखा है- 'तद्विपाकस्यैव देशकालनिमित्तानवधरणाद् इयं कर्मगतिश्चित्रा दुर्विज्ञानाचेति'। अर्थात् कर्माशय का फल देश, काल तथा निमित्त से निश्चित न होने के कारण यह कर्मगति विचित्र और दुर्बोध्य है।

वर्त्तमान जन्म के कर्मो का फल वर्त्तमान जन्म में भी मिलता है

(१) महर्षि-दयानन्द ने मनुस्मृति के निम्नलिखित श्लोक का अर्थ करते हुये लिखा है-

नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव।
शनैरावर्त्तमानस्तु कर्त्तुर्मूलानि कृन्तति।। (मनु०)

अर्थ- मनुष्य निश्चय करके जाने कि इस संसार में जैसे गाय की सेवा का फल दूध आदि शीघ्र नहीं होता, वैसे ही किये' हुये अधर्म का फल भी शीघ्र नहीं होता, किन्तु धीरे-धीरे **अधर्म-कर्त्ता के सुखों को रोकता** हुआ सुख के **मूलों को काट देता है,** पश्चात् अधर्मी दुःख ही दुःख भोगता हैं। (संस्कार० गृहाश्रम)

(२) **हिंसारतश्च यो नित्यं नेहासौ सुखमेधते।।**

अर्थ- जो सदा हिंसा में अर्थात् वैर में प्रवृत्त रहता है, वह इस लोक और परलोक अर्थात् परजन्म में सुख को कभी नहीं प्राप्त हो सकता।।

(संस्कार० गृहाश्रम)

(३) 'इन पाँच महायज्ञों का फल यह है कि ब्रह्मयज्ञ के करने से विद्या, शिक्षा, धर्म, सभ्यतादि शुभगुणों की वृद्धि, अग्निहोत्र से वायु, वृष्टि जल की शुद्धि होकर वृष्टि द्वारा संसार का सुख प्राप्ति होना।'(स० प्र० चतुर्थ०)

(४) **अधर्मेणैधते तावत्ततो भद्राणि पश्यति।**
ततः सपत्नाञ्जयति समूलस्तु विनश्यति।।

(मनु०)

'जब अधर्मात्मा मनुष्य धर्म की मर्यादा छोड़.... प्रथम बढ़ता है पश्चात् धनादि ऐश्वर्य से खान, पान, वस्त्र, आभूषण, यान, स्थान, मान, प्रतिष्ठा को प्राप्त होता है। अन्याय से शुत्रओं को भी जीतता है, पश्चात् शीघ्र नष्ट हो जाता है।

(५) 'अपने दुष्ट-कर्मो के साथ ही दुःखसागर में डूबते हैं। वे तो डूबते ही हैं, परन्तु दाताओं को साथ डुबा लेते हैं'।। (स० प्र० चतुर्थ०)

(६) **त्रिष्वप्येतेषु दत्तं हि विधिनाप्यर्जितं धनम्।**
दातुर्भवत्यनर्थाय परत्रादातुरेव च।।

(मनु०)

'जो धर्म से प्राप्त हुये धन का उक्त तीनों को (अतपस्वी, अनधीयान, और प्रतिग्रहरूचि) देना है, वह दानदाता का नाश इसी जन्म और लेने वाले का नाश परजन्म में करता है'। (स० प्र० चतुर्थ०)

(७) 'जो-जो पराधीन कर्म ही, उस-उसका प्रयत्न से त्याग और जो-जो स्वाधीन कर्म हो उस-उसका प्रयत्न के साथ सेवन करे। क्योंकि जो-जो पराधीनता है वह-वह सब दुःख.....।' (स० प्र० चतुर्थ०)

(८) 'जो दुष्टाचारी पुरूष है, वह अधिक जियेगा

This document is created by GIRDAC PDF Creator Pro trial version
GIRDAC PDF Creator Pro full version does not add this green footer
Full version can be ordered from http://www.girdac.com/Products/Buy.htm

वो अधिक-अधिक पाप करके नीच-नीच गति अर्थात् अधिक-अधिक दु:ख को प्राप्त होता जायेगा।'

(स० प्र० षष्ठ०)

(९) 'क्रोधजों में बिना अपराध दण्ड देना, कठोर वचन बोलना, और धनादि का अन्याय में खर्च करना, ये तीन.... बड़े दु:खदायक दोष हैं।। (स० प्र० षष्ठ०)

(१०) 'जिस राजा के राज्य में डाकू लोग रोती विलाप करती प्रजा के पदार्थ और प्राणों को हरते हैं, वह जानों भृत्य अमात्य सहित मृतक है, जीता नहीं और महादु:ख का पाने वाला है। (स० प्र० ६ समु०)

(११) 'जो राजा मोह से, अविचार से अपने राज्य को दुर्बल करता है, वह राज्य और अपने बन्धुसहित **जीवन से पूर्व ही शीघ्र नष्ट भ्रष्ट हो** जाता है।'

(स० प्र० ६ समु०)

(१२) ''जो राजा......बुरे व्यसनों में फंसता है, वह शरीर से भी रहित हो जाता है।।'' (स० प्र० ६ समु०)

(१३) ''मैं सत्यभाषणरूप स्तुति करने वाले मनुष्य को सनातन ज्ञानादि धन को देता हूँ।।''

(स० प्र० सप्तम०)

(१४) प्रश्न - दान के फल यहाँ होते हैं वा परलोक में?

उत्तर - सर्वत्र होते हैं।।'' (स० प्र० ११ समु०)

(१५) धर्म का स्वरूप बताते हुये वैशेषिक दर्शन में लिखा है- 'यतोऽभ्युदय-नि:श्रेयससिद्धि: स धर्म:।' (वै० १। १ । २) इसकी व्याख्या में महर्षि-दयानन्द लिखते हैं-''जिसके आचरण करने से संसार में उत्तम सुख और नि:श्रयेस अर्थात् मोक्ष-सुख की प्राप्ति होती है, उसी का नाम धर्म है।' (ऋ० भू० वेदोक्त०)

इससे भी स्पष्ट है कि धर्माचरण अथवा शुभकर्मो को अनुष्ठान का फल वर्त्तमान जन्म में भी मिलता है।

(१६) मनु ने (६। ८० में) लिखा है कि संन्यासी सब में समता तथा निस्पृह रहकर इस लोक तथा परलोक में सुख प्राप्त करता है।

(१७) और मनु ने (८। ७५ में) झूठी साक्षी देने वाले के विषय में कहा है कि वह इस जन्म तथा परजन्म के सुखों से हीन हो जाता है।

(१८) और मनु ने (८। ३०७) में कहा है कि जो राजा प्रज की रक्षा न करके कर (राजस्व) लेता है वह **'सद्यो नरकं व्रजेत्'** शीघ्र ही दु:ख को प्राप्त करता है।

(१९) और मनु ने (८। ३७२ में) व्यभिचारी स्त्री-पुरूषों को दण्ड का विधान करते हुये लिखा है कि राजा व्यभिचारी पुरूष को दहकते हुये लोहे के पलंग पर गिरवाकर मरवा देवे और (७। ३७१ के अनुसार) व्ययिभचारिणी स्त्री को सबके सम्मुख कुत्तों से कटवाकर मरवा देवें। क्या यह वर्त्तमान जन्म के कर्मो का ही फल नहीं हैं?

(२०) (९। २५ में) मनु ने कहा है कि स्त्री-पुरूष के धर्म इस लोक और परलोक में सुख देने वाले हैं।

(२१) (५। ४५) इस मनु के प्रमाण से दूसरों को दु:ख देने वाला व्यक्ति इस लोक तथा परलोक में कहीं से सुख प्राप्त नहीं करता है।

(२२) मनु के (२। १-२) प्रमाण से वैदिक-संस्कारों के अनुष्ठान से इस जन्म तथा परजन्म में पवित्रता तथा दोष का नाश होता है।

(२३) मनु के (२। १४३) प्रमाण से वेद न पढ़ने वाला द्विज जीवनकाल में ही शूद्र हो जाता हैं।

आयु-वृद्धि तथा ह्रास के कुछ कारण

(१) **आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिता: प्रजा:।।**

अर्थ- धर्माचरण ही से दीर्घायु, उत्तम प्रजा और अक्षयधन को मनुष्य प्राप्त करता है।

(संस्कार० गृहश्रम०)

(२) **दुराचारो हि पुरूषो लोके भवति निन्दित:।**
दु:खभागी च सततं व्याधितोऽपायुरेव च।।

अर्थ- जो सब अच्छे लक्षणों से हीन भी होकर सदाचारयुक्त सत्य में श्रद्धा और निन्दा आदि दोषरहित होता है, वह सुख से सौ वर्ष पर्यन्त जीता है।

(सं० वि० गृहाश्रम०)

(४) 'अन्यथा वीर्य व्यर्थ जाता, दोनों की आयु घट जाती है और अनेक प्रकार के रोग होते हैं।

(स० प्र० चतुर्थ)

(५) बाल-विवाह से आयु का नाश- 'सोलह वर्ष से न्यून वयवाली स्त्री में, पच्चीस वर्ष से न्यून आयु

This document is created by GIRDAC PDF Creator Pro trial version
GIRDAC PDF Creator Pro full version does not add this green footer
Full version can be ordered from http://www.girdac.com/Products/Buy.htm

वाला पुरूष जो गर्भ की स्थापना करे तो.....उत्पन्न हो तो चिरकाल तक न जीवे वा जीवे तो दुर्बलेन्द्रिय हो।' (स० प्र० चतुर्थ०)

(६) 'इसलिये मिथ्याभाषणादिरूप अधर्म को छोड़ जो धर्माचार अर्थात् ब्रह्मचर्य जितेन्द्रियता से पूर्ण आयु और धर्माचार से उत्तम प्रजा तथा अक्षयधन को प्राप्त होता है।' (स० प्र० चतुर्थ०)

(७) 'और महाव्यभिचार बढ़कर सब रोगी, निर्बल, और अल्पायु होकर शीघ्र-शीघ्र मर जायें।.....और महाव्यभिचार बढ़कर सब रोगी, निर्बल और जलवायु होरक कुलों के कुल नष्ट हो जायें।' (स० प्र० चतुर्थ०)

(८) (४। १३४) मनु कहते हैं- परस्त्री-गमन के समान आयु का घटाने वाला दूसरा कोई कर्म नहीं है।

(९) (४। ४१ में) मनु ने लिखा है कि जो पुरूष रजस्वली स्त्री से सम्भोग करता है, उसकी आयु आदि घट जाती है। और (४। ४२ के अनुसार) रजस्वला के साथ सम्भोग न करने वाले की आयु आदि बढ़ जाती हैं।

(१०) (मनु के ४। १३-१४ के अनुसार) वेदोक्त कर्मो का आचरण करने से सुख, आयु और यश बढ़ जाते है।

(११) (३। ३९-४० में) मनु ने स्पष्ट कहा है कि ब्राह्मादि प्रथम चार प्रकार के विवाह होने से दीर्घजीवी पुत्र पैदा होते है।

दूसरे जीवों के कारण भी जीवात्मा को सुख-दुःख प्राप्त होता है

(१) **यदि नात्मनि पुत्रेषु च चेत् पुत्रेषु नप्तृषु।**
न त्वेवन्तु कृतोऽधर्मः कर्त्तुर्भवति निष्फलः।।

अर्थ- यदि अधर्म का फल कर्त्ता की विद्यमानता में न हो तो पुत्रों और पुत्रों के समय न हो तो नातियों के समय में अवश्य प्राप्त होता है। किन्तु यह कभी नहीं हो सकता कि कर्त्ता का किया हुआ कर्म निष्फल होवे।। (संस्कार० गृहाश्रम०)

(२) **सह नाववतु सह नौ भुनक्तु......।**

इसकी व्याख्या करते हुये महर्षि लिखते हैं-'जिस परमात्मा का यह 'ओम्' नाम है, उसकी कृपा और अपने धर्मयुक्त पुरूषार्थ से हमारे शरीर, मन और आत्मा त्रिविध दुःख जो कि **अपने और दूसरे से** होता है नष्ट हो जावे।' (सं० वि० गृहाश्रम०)

(३) **ओं नमो ब्रह्मणे....।**

इस मंत्र की व्याख्या में महर्षि लिखते हैं- 'इस संसार में तीन प्रकार के दुःख हैं- एक 'आध्यात्मिक', जो आत्मा और शरीर में अविद्या, राग, द्वेष, मूर्खता और ज्वर पीड़ादि होते हैं। दूसरा '**आधिभौतिक' जो शत्रु, व्याघ्र और सर्पादि से प्राप्त होता है।** तीसरा ' आधिदैविक' अर्थात् जो अतिवृष्टि, अतिशीत, अतिउष्णता, मन और इन्द्रियों की अशान्ति से होता हैं । इन तीन प्रकार के क्लेशों से आप हम लोगों को दूर करके कल्याणकारक कर्मो में सदा प्रवृत्त रखिये।। (स० प्र० प्रथम)

(४) ''जहाँ ऐसे पुरूष अध्यापक, उपदेशक, गुरू, और माननीय होते हैं, वहाँ अविद्या, अधर्म, असभ्यता, कलह, विरोध, और फूट बढ़के दुःख ही बढ़ता जाता है।'' (स० प्र० चतुर्थ०)

(५) ''जब संन्यासी एक वेदोक्त धर्म के उपदेश से परस्पर प्रीति उत्पत्र करायेगा, तो लाखों मनुष्यों को बचा देगा।'' (स० प्र० पञ्चम०)

(६) ''स्वतन्त्र राजा प्रजा का नाश करता है।'' (स० प्र० पंचम०)

(७) ''एक अपराधी डाकू को छोड़ देने से सहस्त्रों धर्मात्मा पुरूषों को दुःख देना है।'' (स० प्र० ७ समु०)

(८) ''राजा......धर्मात्माओं के सुख की रक्षा करता, भुगाता, डाकू आदि से बचाकर उनको सुख में रखता है।'' (स० प्र० ११ समु०)

(९) ''जो ग्रन्थ वेद-बाह्य कुत्सित पुरूषों के बनाये संसार का दुःख-सागर में डुबाने वाले हैं, वे सब निष्फल, असत्य, अन्धकाररूप, इस लोक और परलोक में दुःखदायक हैं।'' (स० प्र० ११ वाँ समु०)

(१०) 'उसी दुष्ट-दुर्योधन गोत्रहत्यारे, स्वदेशविनाशक, नीच के दुष्टमार्ग में आर्य लोग अब तक भी चलकर दुःख बढ़ा रहे हैं।'(स.प्र.१०. समु.)

(११) ''जब से विदेशी मांसाहारी.....गौ आदि पशुओं के मारने वाले, मद्यपानी-राज्याधिकारी हुये हैं,

This document is created by GIRDAC PDF Creator Pro trial version
GIRDAC PDF Creator Pro full version does not add this green footer
Full version can be ordered from http://www.girdac.com/Products/Buy.htm

तब से क्रमशः आर्यो के दुःख की बढ़ती होती जाती हैं।

(१२) सांख्यदर्शन में 'अथ त्रिविधदुःखात्यन्त-निवृत्तिरत्यन्तपुरूषार्थः' (सां० १।१) कहकर जो दुःखों के तीन भाग (आध्यात्मिक आधिदैविक, और आधिभौतिक) किये हैं, उनमें दूसरे प्राणियों से मिलने वाले दुःखों को ही आधिभौतिक कहा गया है। और यदि जीवों को मिलने वाले समस्त दुःख ईश्वरीय-व्यवस्था से ही हों, अन्य जीवों से नहीं, तब दुःखों की निवृत्ति करना ही संभव न होने से सूत्रकार का कथन ही निरर्थक हो जायें। ऋषि ने स्पष्ट लिखा है-

(क)'सब जीव कर्म करने में स्वाधीन और पापों के फल भोगने में कुछ पराधीन भी हैं।'(ऋ.भा.वेदोक्त.)

(ख) 'फल देने में ईश्वर स्वतन्त्र और जीव किञ्चित् वर्त्तमान और कर्म में स्वतन्त्र है।'(स.प्र. सप्तम.)

यहाँ महर्षि के 'कुछ' और 'किञ्चित्' शब्द विशेष ध्यान देने योग्य हैं। क्योंकि जीवात्मा ईश्वर-प्रदत्त सुखों व दुःखों में भी शुभाशुभ-कर्मो से वृद्धि अथवा न्यूनता कर सकता है। और कर्म करने में पूर्ण स्वतन्त्र होने से दूसरे जीवों को सुख, दुःख भी दे सकता है। अन्यथा परोपकार करनादि बातें आकाशकुसुमवत् ही मानी जायेंगी।

(१३) मनु ने (७।९४ में) लिखा है कि जो भृत्य युद्ध में पलायन कर जाता है, उसे राजा का दुष्कृत=पाप प्राप्त होता है। और ७।९५ में लिखा है कि उसे पलायन करने वाले का पुण्य राजा को मिल जाता है।

(१४) मनुस्मृति (८।१८) में अधर्म के चार भाग किये हैं- उनमे एक भाग अधर्म के कर्त्ता को एकभाग साक्षी को, एकभाग सभासद को और एक भाग राजा को प्राप्त होता है।

(१५) (९।१३८ में) मनु कहते हैं कि पुत्र को पुत्र इसीलिये कहते हैं कि वह माता-पिता को दुःखों से बचाता हैं।

शास्त्रार्थ-सम्बद्ध कतिपय-प्रमाणों पर विचार

याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।।
(यजु० ४०।८)

इस शास्त्रार्थ में पूर्वपक्षी ने इस मन्त्रभाग को इसलिये उद्धृत किया है कि परमात्मा जीवों को 'यथाकर्म तथा फलम्' कर्मानुसार फल देते हैं। यद्यपि इस मान्यता से किसी का भी विरोध नहीं है, पुनरपि इस मन्त्र से यह मान्यता सिद्ध नहीं होती। महर्षि-दयानन्द ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है-'वह परमात्मा (शाश्वतीभ्यः) सनातन अनादिस्वरूप वाली; अपने स्वरूप की दृष्टि से उत्पत्ति और विनाश से रहित (समाभ्यः) प्रजा के लिये (याथातथ्यतः) यथार्थता से (अर्थात) वेद के द्वारा सब पदार्थो का (व्यदधात्) अच्छी तरह से उपदेश करता है। (यजुर्वेदभाष्य-भास्कर)

क्या शस्त्र, विषादि से अकाल में मृत्यु नहीं होती?

मृत्यु का समय निश्चित मानने वालों का यह कथन प्रत्यक्ष-विरूद्ध है कि यदि मृत्यु का समय नहीं आया है तो उसे न तो कोई शस्त्रादि से मार सकता है, और नहीं अग्नि आदि उसकी मृत्यु के कारण बन सकते हैं। इस विषय में विद्युत् का सम्पर्क करके तुरन्त परिणाम देखा जा सकता है। और विषादि के भक्षण से भी मृत्यु हो जाती है। इस विषय में वात्स्यायनमुनि लिखते हैं-यथा विषयोगात् पयो विषमिति बुध्यमानो नोपादत्त अनुपादानो मरणदुःख नाप्नोति।। (न्याय० ४।१।५५ वा० भा०)

अर्थात् विष के सम्पर्क से दूध भी विष हो जाता है, ऐसा जानने वाला विषमिश्रित दूध को नहीं ग्रहण करता है। और उस दूध को ग्रहण=पान न करने से मृत्यु-दुःख को नहीं प्राप्त करता हैं। इससे स्पष्ट है कि विषादि से असमय में भी मृत्यु होती है।

सर्वाणि पूर्वकर्माणि०-

इस प्रमाण का शुद्धपाठ तथा प्रसङ्ग इस प्रकार हैं-

'पूर्वजन्मनिवृत्तौ पुनर्जन्म न भवतीत्युच्यते, न तु कर्मविपाकप्रतिसंवेदनं प्रत्याख्यायते। सर्वाणि पूर्वकर्माणि ह्यन्ते जन्मनि विपच्यन्त इति।।'

(न्याय० ४.१.६४. वा० भा०)

पाठक इस शुद्धपाठ से तथा प्रसङ्ग से भलीभाँति ज्ञान कर सकते हैं कि पूर्वपक्षी ने इसे उद्धृत करके छल का ही आश्रय लिया है और 'अग्रिम' पाठ-भेद स्वयं करके पर-पक्ष का दूषण निरर्थक ही किया है। यथार्थ

This document is created by GIRDAC PDF Creator Pro trial version
GIRDAC PDF Creator Pro full version does not add this green footer
Full version can be ordered from http://www.girdac.com/Products/Buy.htm

में यहाँ जन्म-परम्परा के उच्छेद होने से पूर्वजन्म को ही अन्तिम जन्म माना है और उसी में कर्मों को फल माना हैं, अगले जन्म में नही। क्योंकि मोक्ष-प्राप्ति होने पर जन्म-मरण मोक्षावधि में नहीं होते।

न्यायदर्शनकार ने कर्मफल की प्राप्ति वर्त्तमान जन्म में भी मानी है-

इससे पूर्व पूर्वपक्षी ने एक तर्क यह भी दिया है कि 'प्रेत्यभावादनन्तरं फलं तस्मिन्) अर्थात् जीवों को कर्मो का फल मरने के बाद ही प्राप्त होता हैं बीज पहले नष्ट हो जाता है, फिर उसमें अंकुर उपजता हैं तो पहले जो कर्म करता है, वह मरणोत्तर अगले जन्म में ही फल प्राप्त करता हैं। इसका उत्तर यह है- (१) यह मान्यता वेद, योगदर्शन, मनुस्मृति आदि शास्त्रों तथा ऋषि दयानन्द के लेख से विरूद्ध होने से माननीय नहीं हो सकती। इसमें प्रमाण पृथक् से परिशिष्ट में देखे जा सकते हैं।

(२) और यह मान्यता न्यायदर्शन के भी विरूद्ध है। फल का लक्षण दर्शनकार ने यह किया है- 'प्रवृत्तिदोषजनितोऽर्थः फलम्' (न्याय० १। १। २०) अर्थात् धर्माधर्मरूप प्रवृत्ति से, और रागद्वेषादि दोषों से जो अर्थ=सुख-दु:खरूप भोग प्राप्त होता है, वह फल कहलाता है। और यह फल इन्द्रिय सहित शरीरादि के होने पर ही सम्भव है। यहाँ वर्त्तमान जन्म, अथवा अगला जन्म, इसका कोई भी निर्देश नहीं किया है।

(३) और 'सद्यः कालान्तरे च फलनिष्पत्तः संशयः' (न्या० ४। १। ४४) सूत्र में दर्शनकार ने 'पचति, दोग्धि' का तथा 'कर्षति, वपति' इत्यादि कर्मो का वर्त्तमान जन्म में ही फल मानकर अग्निहोत्रादि के फल में संशय दिखाया हैं। और 'न सद्यः कालान्तरोपभोग्यत्वात्' (न्याय० ४। १। ४५) सू. में अग्निहोत्र का फल कालान्तर में माना हैं। और इस सूत्र पर भाष्यकार ने स्वर्गादि फल देहान्तर में मानकर भी 'ग्रामादिकामानामारम्भफलमिति' लिखकर स्पष्ट लिखा है- 'ग्रामकामो यजेत' इत्यादि यज्ञों का फल सद्यः=शीघ्र वर्त्तमान जन्म में ही स्वीकार किया है।

(४) और बीज के ध्वस्त होने पर अंकुर होने का उदाहरण भी ठीक नहीं है। न्यायदर्शन में इसका स्वंय खण्डन करते हुये लिखा है- 'कारणान्त-रेणाऽनिष्पतिः, हेतुविनाशात्' (न्याय० ४। १। ४६) जब कारण का नाश ही हो जाता है, तो उससे फल नहीं उत्पन्न हो सकता हैं। क्योंकि विनष्ट कारण से कुछ भी उत्पन्न नहीं हो सकता। फिर बीज से अंकुर तथ यज्ञादि से स्वर्गादि प्राप्ति कैसे होती है? इसका समाधान (न्याय० ४। १। ४७) में यह दिया है-जैसे फल चाहने वाला वृक्ष के मूल को प्रथम सींचता है, वह सेचन रूप जल पृथिवी के परमाणुओं से संयुक्त होकर पार्थिव अग्नि से पकाया जाता हुआ रस को उत्पन्न करता है, और वह रस पाकविशेष को प्राप्त होकर पत्र, पुष्प, फलादि को उत्पन्न करता है। ठीक इसी प्रकार जीवों की प्रवृत्ति से धर्माध र्मरूप संस्कार उत्पन्न होता है, और ये संस्कार फलप्राप्ति के योग्य वातावरण, स्थानादि को प्राप्त करके सुख-दु:खरूप फलों को प्राप्त कराते हैं। इस प्रकार बीज-ध्वस्त की बात यहाँ कदापि मान्य नहीं हो सकती।

'सद्यः पद का यथार्थ-

व्यारकण के अनुसार 'सद्यः' पद 'समान' शब्द से 'द्य' प्रत्यय और समान को सादेश कालविशेष में (अ० ५। ३। २२) सूत्र से निपातन से निष्पन्न होता है। समानेऽहनि सद्यः। व्याकरण के अनुसार 'सद्यः' शब्द का अर्थ है उसी दिन। इस शब्द का 'परजन्म' अर्थ तो कदापि नहीं हो सकता। और महर्षि-दयानन्द ने इस शब्द का अन्यत्र अर्थ इस प्रकार किया है- सद्यः=क्षित्रम् (ऋ० ४। ७। १०) । सद्यः=शीघ्रमेव (ऋ० ५. ३. २२) सद्यः= तूर्णम् (ऋ० १. १२२. १४)

इन अर्थो से स्पष्ट है कि 'सद्यः' पद का अर्थ तुरन्त (ऐटवंस) नहीं है, तो परजन्म भी कदापि नहीं हो सकता। वत्तर्मान-जन्म में ही उस प्रार्थनोपासना का फल मानना पड़ेगा। जैसे ऋषि ने लिखा कि प्रार्थना करने से अभिमान का नाश, उत्साह व आत्म-बल का बढ़नादि फल होते हैं, वैसे 'यां मेधाम्०' मन्त्र में तथा 'हे ईश्वर! दयानिधे०' इत्यादि महर्षि-लिखति वाक्य की प्रार्थना का फल वर्त्तमान जन्म में भी फल मानना अनुचित नहीं हैं।

This document is created by GIRDAC PDF Creator Pro trial version
GIRDAC PDF Creator Pro full version does not add this green footer
Full version can be ordered from http://www.girdac.com/Products/Buy.htm

रामायण के विषय में कतिपय शंका-समाधान

❑ स्वर्गीय पं. राजवीर शास्त्री......✍

(१) क्या ताडका राक्षसी का वध नहीं करना राम का अमर्यादित कार्य था? अनेक व्यक्ति ऐसी आशंकायें करते रहते हैं कि ताडका (स्त्री) का वध करना चहिएं था। यह उनके चरित्र पर एक कलंक प्रतीत होता है। उत्तर-वा०रामायण में जब इस प्रसंग को तथा राजा के धर्म को देखते हैं, तो ताडका वध करना पाप नहीं था। स्वयं अगस्त्य ऋषि ने राम को ताडकावध के लिए प्रेरित करते हुए कहा था-

एनां राघव दुर्वृत्तां यक्षीं परमदारूणाम्।
गोब्राह्मणहितार्थाय जहि दुष्टपराक्रमाम्।।
न हि ते स्त्रीवधकृते घृणा कार्या नरोत्तम।।

-बाल० सर्ग २५

हे रघुवंशी राम! यह ताडका राक्षसी बहुत दुष्ट स्वभाव की है, मनुष्यों को मारकर खा जाती है और बहुत ही भयंकर स्वभाव वाली है। प्रजा की रक्षा के लिए उसके वध करने में कोई पाप नहीं है।

(२) क्या राम ने बाली का वध बिना अपराध के किया था?

उत्तर-ऐसी ही बात बाली ने भी कही थी।-

हत्वा बाणेन काकुत्स्थ मामिहानपराधिनम्।
किं वक्ष्यसि सतां मध्ये कर्म कृत्वा जुगुप्सितम्।।

(किष्किन्धा०सर्ग० १७)

हे राम! तुमने बिना अपराध के मुझे मारा है। यह निन्दनीय कार्य करके सत्पुरूषों के मध्य क्या उत्तर दोगे? बाली की बात सुनकर राम कहते हैं-

औरसीं भगिनीं वापि भार्या वाऽप्यनुजस्य यः।
प्रचरेत् नरः कामात् तस्य दण्डो वधः स्मृतः।।

(किष्किन्धा०सर्ग० १७)

अर्थात् जो व्यक्ति कामवश होकर सहोदरा बहिन तथा छोटे भाई की पत्नी के साथ दुराचार करता है, उसका दण्ड वध करना ही धर्म-शास्त्रकारों ने बताया है। अत: हे बाली! तुझे अपराधी समझकर ही मैंने मारा है। महाकवि तुलसीदास ने भी इसी भाव को कहते हुए लिखा है-

अनुजवधू भगिनी सुतनारी।
सुन शठ ये कन्या सम चारी।।
इन्हीं कुदृष्टि विलोकई सोई।
ताहि वधे कछु पाप न होई।।

(३) क्या रामचन्द्र जी मूर्तिपूजा करते थे?

उत्तर-एक तरफ तो पौराणिक लोगों ने राम को ईश्वर का अवतार माना और दूसरी तरफ राम को शिवलिंग की पूजा करने वाला भी माना है। यदि वे स्वयं ईश्वर थे तो वे किसकी पूजा करते थे? महर्षि दयानन्द ने इस प्रश्न का उत्तर (स०प्र० ११वें समु० में) देते हुए लिखा है-

''प्रश्न-रामेश्वर को रामचन्द्र ने स्थापित किया है। जो मूर्तिपूजा वेद विरूद्ध होतो रामचन्द्र मूर्ति स्थापन क्यों करते। और वाल्मिकी जी रामायण में क्यों लिखते?

उत्तर-रामचन्द्र के समय में उस लिंग वा मन्दिर का नाम चिह्न भी न था। किन्तु यह ठीक है कि दक्षिण देशस्थ राम नामक राजा ने मन्दिर बनवा लिंग का नाम रामेश्वर धर दिया है। जब रामचन्द्र सीता जी को ले हनुमान आदि के साथ लंका से आकाश मार्ग में विमान पर बैठ अयोध्या को आते थे, तब सीता जी से कहा था-अत्र पूर्व महादेव प्रसादमकरोद् विभुः। हे सीते! तेरे वियोग में हम व्याकुल होकर घूमते थे और इसी स्थान पर चातुर्मास किया था और परमेश्वर की उपासना ध्यान भी करते थे। वही जो सर्वत्र विभु-व्यापक देवों का देव महादेव परमात्मा है, उसकी कृपा से हमको सब सामग्री यहां प्राप्त हुई।.......इसके सिवाय वहां बाल्मीकी ने अन्य कुछ भी नहीं लिखा।''

(४) क्या सीता-राम की मूर्ति बनाकर पूजा करना पाप है?

उत्तर-हाँ पाप है। क्योंकि इस विषय में शास्त्रों में स्पष्ट निर्देश दिया है-योऽन्यां देवतामुपास्ते पशुरेव स

This document is created by GIRDAC PDF Creator Pro trial version
GIRDAC PDF Creator Pro full version does not add this green footer
Full version can be ordered from http://www.girdac.com/Products/Buy.htm

देवानाम्।। श०ब्रा० काण्ड १४।। जो एक परमेश्वर को छोड़कर अन्य किसी की उपासना करता है, वह मनुष्यता से गिर जाता है। और जड़मूर्ति में चेतन मानकर पूजा करना महान अज्ञान है। और सीता-राम आदि, जो वेदों के विद्वान् तथा ईश्वर के परम भक्त थे। उनके विचारों के विरूद्ध उनकी मूर्ति बनाना व पूजना उनका उपहास ही करना है। इस विषय में महर्षि दयानन्द बहुत ही हृदयस्पर्शी बात लिखते हैं-

(क)''देखो मूर्तिपूजा से श्री रामचन्द्र, श्रीकृष्ण आदि की बड़ी निन्दा और उपहास होता है। सब लोग जानते हैं कि वे बड़े महाराजाधिराज और उनकी स्त्री सीता तथा रूक्मिणी आदि महरानियां थी। परन्तु जब उनकी मूर्तियां मन्दिर आदि में रखके पूजारी लोग उनके नाम से भीख मांगते हैं अर्थात् उनको भिखारी बनाते हैं कि-आओ महाराज! दर्शन कीजिए, बैठिए, चरणामृत लीजिए, कुछ भेंट चढ़ाईए। सीता-राम, कृष्णरूक्मिणी को तीन दिन से बालभोग वा राजभोग नहीं मिला है। वस्त्र सब फट गये हैं।

(ख) ''भला जिस समय ये विद्यमान थे, उस समय सीता, रूक्मिणी को सड़क पर वा किसी मकान में खड़ी कर पूजारी कहते कि-आओ, इनका दर्शन करो और कुछ भेंट-पूजा धरों, तो सीता-राम आदि इन मूर्खों के कहने से ऐसा काम कभी न करते और न करने देते। जो कोई ऐसा उपहास उनका करता, उसको बिना दण्ड दिए कभी छोड़ते?''

(ग)''इसमें क्या संदेह है कि जो आर्यावर्त्त की प्रतिदिन महाहानि, पाषाणादि मूर्तिपूजकों का पराजय इन्हीं कर्मो से होता है। क्योंकि पाप का फल दु:ख है।'' (क,ख ग तीनों स०प्र०११वां समु०)

(५) क्या सीता जी की अग्नि में बैठाकर अग्नि-परीक्षा ली थी?

उत्तर-वाल्मीकी रामायण के ११६ वें सर्ग में यह प्रसंग आया है। उसके वर्णन से तो यही प्रतीत हो रहा है कि लक्ष्मण के द्वारा चिता बनाई गई और उसमें सीता ने प्रवेश किया-

विवेश ज्वालनं दीप्तं निश्शकेनान्तरात्मना।।

परन्तु यह प्रसंग परवर्ती प्रक्षेप ही है। अग्नि-परीक्षा लेना एक भाषा की वाग्धारा (मुहावरा) ही है, जिसका भाव कठोर परीक्षा लेना ही है। इस भौतिकाग्नि में यह चेतना कहाँ है कि दोषी को जलाये और शुद्धचरित्रा को न जलाये। अग्नि में कैसा भी चरित्रवान् व्यक्ति हो, हाथ देकर स्वयं अनुभव कर सकता है। हमें सृष्टिक्रम के विरूद्ध बात पर कभी विश्वास नहीं करना चाहिए।

(६) क्या राम ने किसी तपस्या करने वाले शुद्र का भी वध किया था?

उत्तर-वा० रामायण में भी एक 'उत्तरकाण्ड' मिलता है जिसका शाब्दिक अर्थ भी यही है यह काण्ड बाद में बना है। उत्तरकाण्ड के अनुसार ब्राह्मण बालक की मृत्यु पर उसके पारिवारिक जन राम के दरबार में रोते विलाप करते आए। बालक की मृत्यु का कारण नारद मुनि ने यह बताया कि शम्बूक नामक एक शुद्र दक्षिण दिशा में पर्वत पर तपस्या कर रहा है। राम विमान में बैठकर वहां गये और उस शुद्र को मारकर ब्राह्मण-पुत्र को जीवित किया।

यह घटना रामायण की अन्त:साक्षी से तथा सृष्टि नियमों से विरूद्ध होने से सत्य नहीं है जिस राम के राज्य में- **न च स्म वृद्धा बालानां प्रेतकार्याणि कुर्वते।।**

छोटी आयु के व्यक्ति बड़ों के सामने मरते ही न हों, तो ब्राह्मण-बालक की मृत्यु कैसे सम्भव हुई। और मृत्यु बाह्मण बालक की, उसका शुद्र की तपस्या से क्या संबंध? और क्या दूसरे को मारकर अन्य मृत व्यक्ति जीवित हो सकता है? और जिस राम के राज्य में चारों वर्ण धर्म परायण हों, धर्माचरण पर सबका समान अधिकार हो, उसमें शुद्र की तपस्या पर बन्धन क्यों? जिस राम ने शबरी के पाद्य एवं फलादिके आतिथ्य को बहुत ही स्नेह से स्वीकार किया हो, क्या वह शुद्रों के साथ पक्षपात् कर सकता था? जिसके गुणों में भी कहा गया है-'आर्य: सर्व- समश्चैव।' अर्थात् सबके साथ समता का व्यवहार करने से राम 'सर्वसम' कहलाते थे, क्या वे शुद्रों के साथ ऐसा भेद-भाव कर सकते थे? इत्यादि बातों पर विचार करने से स्पष्ट है कि यह उत्तरकाण्ड पौराणिक परम्परा के प्रभाव वश ही परवर्त्ती प्रक्षेप किया गया है।

This document is created by GIRDAC PDF Creator Pro trial version
GIRDAC PDF Creator Pro full version does not add this green footer
Full version can be ordered from http://www.girdac.com/Products/Buy.htm

श्रीराम ईश्वर के अनन्य भक्त थे

श्रीराम का समस्त जीवन आदर्शों और शिक्षाओं से ओत-प्रोत है, श्रीराम मर्यादा पुरूषोत्तम थे, उनके लिए इस शब्द का प्रयोग बहुत ही सार्थक है। उन्होंने जीवन भर किसी वेदोक्त, धार्मिक तथा सामाजिक मर्यादा का उल्लंघन नहीं किया ईश्वर-भक्ति के इस क्षेत्र में भी उनका जीवन परमादर्श है। वाल्मीकी रामायण की अन्तः साक्षी के आधार पर कतिपय प्रसंग यहां दिए जा रहे हैं, जिनसे स्पष्ट होता है कि राम ईश्वर के परम भक्त थे। हम उन्हें ईश्वर का अवतार मानते हैं, वे रामायण के विरूद्ध मान्यता रखते हैं। यदि वे स्वयं भगवान् ही थे, तो फिर वे किस की भक्ति करते थे? ईश्वर का अवतार वाद ही वेद विरूद्ध है, फिर श्रीराम वेदज्ञ होकर वेद विरूद्ध आचरण कैसे कर सकते थे। देखिए रामायण के कतिपय स्थल-

(१) **प्रभातकाले चोत्थाय पूर्वां सन्ध्यामुपास्यच।।**
प्रशुची परमं जाप्यं समाप्य नियमेन च।।
बाल०२९सर्ग।।

अर्थात् विश्वामित्र के आश्रम में राम-लक्ष्मण ने प्रातः काल उठकर तथा शुद्ध होकर नियमित रूप से सन्ध्या व जप की विधि पूर्ण की, तत्पश्चात् विश्वामित्र को अभिवादन किया।

(२) **तस्यर्षेः परमोदारं वचः श्रुत्वा नरोत्तमौ।**
स्नात्वा कृतोदकौ वीरौ जेपतुः परमं जपम्।।
बाल०२३सर्ग

अर्थात् मनुष्यों में श्रेष्ठ राम-लक्ष्मण ने विश्वामित्र के वचन सुनकर स्नानादि कार्यो से निवृत्त होकर जपोपासना की।

(३) **एकायामवशिष्टायां रात्र्यां प्रतिबुध्यसः।।**
पूर्वां सन्ध्यामुपासीनो जजाप सुसमाहितः।।
बाल०६सर्ग।।

अर्थात् (राज्यभिषेक से पूर्व वसिष्ठ मुनि के उपदेश के बाद) श्री राम ने प्रातः ब्राह्म मुहूर्त में उठकर एकाग्र मन से प्रातःकालीन सन्ध्या व जप किया।

(४)**रामस्यास्तं गतः सूर्यः सन्ध्याकालोऽभ्यवर्त्तत।।**
उपास्य पश्चिमां सन्ध्यां सह भ्रात्रा यथाविधि।।
अरण्य०११ सर्ग।।

अर्थात् वसिष्ठ मुनि के आश्रम में पहुंचने पर राम लक्ष्मण दोनों ने सन्ध्याकाल में सायंकालीन सन्ध्या की तत्पश्चात् वसिष्ठ मुनि को अभिवादन किया।

श्री राम महापुरूष थे,ईश्वर के अवतार नहीं

(१) श्रीराम चन्द्र जी ने अपने को मनुष्य की स्वीकार किया है, देखिए आत्मानं मानुषं मन्ये रामं दशरथात्मजम्।।
युद्ध काण्ड ११७ सर्ग।।

अर्थात् मैं अपने को मनुष्य मानता ही हूँ और राजा दशरथ का पुत्र हूँ। और सीता अपहरण होने पर श्रीराम दुःखाकुल होकर कहते हैं-

(२) **पूर्वं मया नूनमभीप्सितानि पापनि कर्माण्यसत्कृतानि।।** (अरण्य काण्ड ६३ सर्ग)

अर्थात् मैंने पूर्व जन्म में बार-बार ऐसे दुष्कर्म किये थे जो मुझे निरन्तर दुःख भोगने पड़ रहे हैं। राज्य से तथा अपने पारिवारिक-जनों से वियोग होना, पिता श्री की मृत्यु हो जाना और अब सीता का भी वियोग होना क्या यह दुःखों का काष्ठों से अग्नि की भांति प्रदीप्त होना नहीं है?

(३) **किं मया दुष्कृतं कर्म कृतमन्यत्र जन्मनि।**
येन मे धार्मिको भ्राता निहतश्चाग्रतः स्थितः।।
(युद्ध काण्ड १०१ सर्ग)

अर्थात् लक्ष्मण को मूर्छित देखकर अत्यन्त दुःखी होकर श्रीराम कहते हैं कि मेरे से पूर्व जन्म में ऐसा कोई दुष्कर्म हो गया है। जिसका फल यह है कि मैं अपने धार्मिक भाई को मृत प्राय देख रहा हूँ।

(४) **यत्कर्त्तव्यं मनुष्येण घर्षणां परिमार्जता।**
तत्कृतं सकलं सीते शत्रुहस्तादमर्षणात्।।
(युद्ध काण्ड सर्ग ११५)

अर्थात् रावण वध के पश्चात् राम ने सीता से कहा- हे सीता! मैं मनुष्य होता हुआ जो कुछ कर सकता था, वह सब मैंने किया। और यह अच्छा ही रहा कि शत्रुओं के हाथ से कभी घर्षित नहीं हो सका।

इत्यादि रामायण के प्रसंगों से स्पष्ट है कि श्रीराम स्वयं अपने को मनुष्य ही मानते थे। जन्मजन्मान्तरों में शुभ व अशुभ कर्मो के ईश्वरीय व्यवस्था से मिले शुभाशुभ फलों में भी पूर्ण विश्वास करते थे। और जिसका जन्म होता है, वह ईश्वरीय या ईश्वरावतार तो कभी हो ही नहीं सकता। क्योंकि पूर्वकृत कर्मो के फलस्वरूप ही जन्म मिलता है।

This document is created by GIRDAC PDF Creator Pro trial version
GIRDAC PDF Creator Pro full version does not add this green footer
Full version can be ordered from http://www.girdac.com/Products/Buy.htm

धर्म की आवश्यकता

❑ स्वर्गीय पं. राजवीर शास्त्री......✍

(१) धर्म से हीन पशु होता है-धर्म का मानव जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान है। संस्कृत में नीतिकार कहते है- 'धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः।'

अर्थात् मनुष्यों और पशुओं में आहार, निद्रा , मैथुन तथा भयभीत होना है, ये सब समान होते है परन्तु धर्माचरण ही मनुष्य में विशेष गुण है जिसके कारण वह पशुओं से विशेष होता है। व्यक्ति की मन:स्थिति का प्रभाव उसके जीवन पर प्रत्यक्ष देखने में आता हैं घातक मानसिकतायुक्त व्यक्ति के सामाजिक सम्बन्ध भी स्वस्थ नहीं रहते और यह मनोवृत्ति व्यक्ति के व्यवहार में स्पष्ट परिलक्षित होती है। उसके समस्त कार्यो के परिणाम तदनुसार ही देखे जा सकते है। महर्षि दयानन्द के मनोभावों का अध्ययन इस तथ्य से स्पष्ट हो जाता है कि उनहोंने अपने विषदाता को साक्षत् सामने उपस्थित देखकर भी उसके प्रति हित-बुद्धि के विचारों को दूर न होने दिया और घातक विचारों को अपने सतीप भी न आने दिया। उत्तम मानसिक व्यक्ति कभी भी सब के हित की बात को अपने से पृथक् नहीं होने देता। उसके व्यवहार में परस्पर प्रीति के भाव ओत-प्रोत रहते है। उसके स्वार्थ में शिव की भावना होती है जो उसे प्रतिक्षण विनाशक भावों से दूर रखती हैं।

(२) पाशविक वृत्तियों का धर्म नियन्ता है-

मानव जीवन में मन:स्थिति को दूषित करने वाले है।- काम, क्रोध, लोभ, ईर्ष्या, मद और मोह। ये षड्रिपु मानव को पतन की ओर अग्रसर करते हैं और इनका दमन मनुष्य धर्मरूपी अंकुश से ही करता है तथा काम आदि के वशीभूत होना ही पतित होना है। इन विघ्वंसमुलक प्रवृत्तियों को जीतने वाला व्यक्ति ही जितेन्द्रिय तथा शूरवीर कहलाता है और इनके वशीभूत व्यक्ति न तो अपना ही भला कर पाता है और न सामाजिक। राष्ट्रीय हित भी उससे सदा दूर रहते हैं।

इन पतनोन्मुख प्रवृत्तियों को रोकने के लिए परमावश्यक होता है विवेकशील होना और विवेक को जागृत करने के लिए अच्छे पुरुषों की संगति तथा अच्छे ग्रन्थों का स्वाध्याय परमावश्यक हैं महाभारत में इसी बात को दूसरे शब्दों में कहा है-**'परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्'।** अर्थात् प्राणिमात्र का हित चिन्तन करना ही संसार में महापुण्य होता है और दुसरों को पीड़ा देना ही महापाप है और ये पाप पुण्य ही धर्म व अधर्म कहाते है। इसलिए कहा गया है-

अहिंसा परमो धर्मः।।

(३)उन्नति का मूल-

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।।

वैशेषिकदर्शन के ऋषि ने धर्म की परिभाषा करते हुए कहा है कि जिसके आचरण से सांसारिक उन्नति और पारलौकिक उन्नति होती है वह धर्म है अर्थात् शारीरिक, बौद्धिक, मानसिक, आत्मिक तथा सामाजिक उन्नति करना सांसाारिक उन्नति है और यह सब मनुष्य धर्म के कारण करता हैं सर्वविध उन्नति धर्म है और अवनति या अपकर्ष या पतन के समस्त साधन अधर्म हैं अग्नि विनाशी गुण दहन करना = जलाना सर्वविदित है किन्तु जब यही अग्नि सृजनात्मक रूप में होती है तो वही अग्नि संसार के निर्माण का हेतु बन जाती है और इसका नाम वैश्वानर पड़ जाता हैं सृष्टिकर्ता परमेश्वर ने अग्नि का कैसा विलक्षा उपयोग किया है, सूर्य के रूप में। यह सूर्य ही जीवन के आधार, ऊर्जा का अजस्र भण्डार व जीवनदाता है और प्रकाश का हेतु बनकर मार्गदर्शक बना हुआ है तथा ज्ञानेन्द्रियों का भी प्रकाशक है।

This document is created by GIRDAC PDF Creator Pro trial version
GIRDAC PDF Creator Pro full version does not add this green footer
Full version can be ordered from http://www.girdac.com/Products/Buy.htm

व्यक्ति के अवनति व विनाश के साधनों को जुटाने में जो ऊर्जा शक्ति का अपव्यय होता है, उससे आत्मिक बल और जीवनीय शक्ति का भी क्षय होता हैं। भय और हिंसक प्रवृत्ति बढ़ने लगती हे और निश्चित रूप से विवेक में न्यूनता आती है। उस व्यक्ति में स्वार्थ, लिप्सा और मिथ्याहंकार ज्ञान-चक्षुओं के पट खुलने नहीं देते। इसके दुष्परिणाम तत्काल या कालान्तर में उस व्यक्ति, समाज व राष्ट्र को भुगतने पड़ते हैं। इसलिए जीवन में उन्नति के इच्छुक व्यक्ति को विवेक का विकास निन्तर करते रहना चाहिए। यही यथार्थ में जीवन का पथ हैं।

(४) धर्म मृत्यु से त्राता है- वेद मनुष्य को आदेश देता है-'मा मृत्योरुदगा वशम्'। मनुष्य को प्रतिक्षण सतर्क रहकर अपने चारों तरफ फैले मृत्यु के भंयकर पाशों से बचने का प्रयास करना चाहियें। जीवन को आप्लावित करने के लिए मृत्यु-पाशों का काटना अपरिहार्य है। मानव जीवन की इसी में परीक्षा होती है। जिसमें इन मृत्यु-पाशों से लड़ने का सामर्थ्य या क्षमता का अभाव होता है, उसे ये पाश निगल जाते है। सक्षम जीवन का पथिक इन पाशों से कभी भयभीत न होकर सतत् सघंर्ष करता है। उपनिषत् का ऋषि इसीलिए यह प्रार्थना करता है-'**मृत्योर्माऽमृतं गमय**' हे प्रभो ! मुझे इन मुत्युपाशों से बचाकर अमरता का पथिक बनाइए। इसी रहस्य को स्पष्ट करने के लिए ही धर्मशास्त्रकार घोषणा करता हे-**धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।** अर्थात् जो व्यक्ति धर्म की रक्षा करता है, धर्म उसकी रक्षा करता है ओर जो धर्म को नष्ट करता है, धर्म उसको नष्ट कर देता है अर्थात् मृत्युपाशों से भी धर्म ही रक्षा करता है। जीवन में हताशा और किंकर्त्तव्यमूढ़ता धार्मिक पक्ष के निर्बल होने पर ही आती है। जीवन में अधर्म की वृद्धि ही व्यक्ति को निराश तथा दुर्बल बना देती है अतः धर्म की वृद्धि करके व्यक्ति को सबल व सशक्त रहना चाहिये जिससे अधर्म के कारण क्षीणता न आ सके। धर्म से परस्पर प्रीति व सहानुभूति के भावों की वृद्धि होती है और मित्रता आदि गुणों की वृद्धि होती है।

(५) सुख का आधार - आचार्य चाणक्य ने लिखा हे-''**सुखस्य मूलं धर्मः धर्मस्य मूलमिन्द्रियजयः।**'' अर्थात् सुख का मूल धर्म है और र्धम का मूल है-इन्द्रियों को संयम में रखना। संसार में प्रत्येक मनुष्य की इच्छा होती है कि मैं सुखी रहूँ और सुख की प्राप्ति धर्म के बिना नहीं हो सकती। अतः धर्म का आचरण अवश्य ही करना चाहिये। बिना धर्म को अपनाये कोई भी मनुष्य सुखी नहीं हो सकता है।

(६)**धर्म परलोक में भी सखा है**-संसार की कोई भी वस्तु सुख का हेतु हो सकती है परन्तु मरणोत्तर किसी के साथ नहीं जा सकती। शास्त्रकार कहते हैं-'**धर्म एकोऽनुगच्छति**' आर्थात् एक धर्म ही मरणोत्तर मनुष्य के साथ जाता है। संस्कृत के नीतिकार कहते है-
धनानि भूमौ, पशवश्च गोष्ठे, नारी गृहे बान्धवाः श्मशाने। देहश्चितायां परलोकमार्गे, धर्मानुगो गच्छति जीवः एकः।।

अर्थात् भौतिक समस्त धन भूमि में ही गड़ा रह जाता है अथवा आजकल बैंकों में या तिजोरियों में ही धरा रह जाता है और गाय आदि पशु गोशाला में ही बन्धे रह जाते हैं । पत्नी घर के द्वार तक ही साथ जाती है और परिवार के भाई-बन्धु व मित्रजन श्मशान तक ही साथ देते है एक मनुष्य का शुभाशुभ कर्म (धर्म) ही परलोक में मनुष्य का साथ देता है अर्थात् धर्म के अनुसार ही मनुष्य को परलोक में अच्छी-बुरी योनियों में जाना पड़ता है।

(७) न लिङ्ग धर्मकारणम्-संसार में विभिन्न मतवालों ने अपने-अपने धर्म के नाम पर विभिन्न चिन्ह बना रखे हैं। जैसे कोई केश बढ़ा रहा है, कोई लम्बी दाढ़ी बढ़ाये हुए है, कोई केश व दाढ़ी दोनों बढ़ाये हुए है, कोई पांच शिखाएं रखे हुए है, कोई मूंछ कटाकर दाढ़ी बढ़ा रहा है ओर कोई चन्दन का तिलक लगा रहा है, कोई माथे को अनेक रेखाओं से अंकित किये हुए है

This document is created by GIRDAC PDF Creator Pro trial version
GIRDAC PDF Creator Pro full version does not add this green footer
Full version can be ordered from http://www.girdac.com/Products/Buy.htm

और हाथादि पर भी चिन्ह बनाये हुए है, किन्तु ये सभी धर्म से कुछ भी सम्बन्ध नहीं रख्ते हैं। अतएव बाह्यचिन्हों को धर्म नहीं माना गया हैं

(८) यतो धर्मस्ततो जयः- गीता के इस श्लोक से इस बात की पुष्टि होती है कि धर्म की सदा विजय होती है। इतिहास की घटनाओं से इस बात की पुष्टि होती है। धर्म की अर्थात् न्याय की सदा विजय होती हे। चाहे अधर्मी कितना बलवान् हो उसकी हार अवश्य होती हें लोक में भी यह देखा जाता है कि अधर्मी की हार का कारण अधर्म ही बन जाता है। मनुस्मृति में भी सत्य ही कहा है-

अधर्मेणैधते तावत् ततो भद्राणि पश्यति।
ततो सपत्नान् जयति समूलस्तु विनश्यति।।

अर्थात् अधर्माचरण करने से व्यक्ति धन-सम्पदा बढ़ने से बढ़ता हुआ दिखाई देता है, तत्पश्चात् भद्र भी देखता है अर्थात् भौतिक साधनों की समृद्धि होने से बड़े-बड़े महल, कोठियाँ बना लेता हे, अपने विरोधियों पर जैसे-तैसे विजय प्राप्त कर लेता है। किन्तु अन्त में उसका सर्वनाश हो जाता है। इसलिए हमें इस शाश्वत सत्य पर अवश्य दृढ़ विश्वास करना चाहिये-

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।
व्योतस्माद् धर्मा न हन्तमानो धर्मो हतोऽवधीत्।।

जो धर्म को नष्ट करता है, धर्म उसका नाश कर देता है और जो धर्म की रक्षा करता हैं धर्म उसकी रक्षा करता है। इसलिए अधर्म से प्राप्त लक्ष्मी कभी भी घर में न आने देवें। अन्यथा ऐसा धन तीसरी पीढ़ी में अवश्य दुष्परिणाम दिखा देता है। लोक में ऐसे उदाहरण अधिकांश में मिल जाते हैं।

(१०) धर्म का ज्ञान वेद से मिलता है-

धर्मशास्त्रकार कहता है-

धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ।।

जो व्यक्ति धर्म को जानना चाहते हैं, उन्हें यथार्थ ज्ञान वेद से प्राप्त हो सकता है। क्योंकि वेद ज्ञान ईवरीय ज्ञान है और ईश्वर सर्वज्ञ होने से उसके ज्ञान में भ्रान्ति अथवा अधूरापन नहीं है। वेद से भिन्न जो मतवालों के ग्रन्थ हैं, वे बहुत बाद के हैं और वे मनुष्यकृत हैं। उनमें परस्पर विरोधी, सृष्टिक्रम से विरुद्ध तथा वे मानवीय घटनाओं से ओत-प्रोत हैं।

इस प्रकार धर्म का ज्ञान और उस पर आचरण मनुष्य के लिए परमावश्यक है, यह हमारी उन्नति व सुख का आधार है। मनुष्य के परम लक्ष्य पुरुषार्थ-चतुष्ट्य की सिद्धि में परमसहायक है। प्रत्येक विवेकी मनुष्य के पद-पद पर सहायक बनता है। इसीलिए कहा गया है-

धारणाद् धर्म इत्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः ।।

(महाभारत०)

प्रश्न-वेद किन ग्रन्थों का नाम हैं?

उत्तर- ऋक् यजुः, साम और अथर्व मन्त्रसंहिताओं का नाम वेद है, अन्य का नहीं। शबर, शङ्कर, कुमारिल, मेधातिथि, वाचस्पतिमिश्र, रामानुज, उव्वट, सायण इत्यादि मध्यकालीन सभी वेदभाष्यकार मन्त्रसंहिताओं और ब्राह्मणों को वेद मानते आए हैं। गत ३००० वर्षो में आर्यावर्त के किसी विद्वान् को इस बात का सन्देह नहीं हुआ कि ब्राह्मणों ग्रन्थ वेद में नहीं हैं। २० वीं शताब्दी (विक्रमी) में महर्षि दयानन्द सरस्वती ने इस सब के विरूद्ध इस बात का प्रकाश किया कि ब्राह्मण-ग्रन्थ वेदों के व्याख्यान हैं वेद नहीं। वेद ईश्वरीय ज्ञान है और ब्राह्मण ऋषि प्रणीत हैं।

This document is created by GIRDAC PDF Creator Pro trial version
GIRDAC PDF Creator Pro full version does not add this green footer
Full version can be ordered from http://www.girdac.com/Products/Buy.htm

सुख व दुःख जीवात्मा के ही गुण है

❑ स्वर्गीय पं. राजवीर शास्त्री......✍

सुख-दुःख क्या हैं? सुख-दुःख किसके गुण हैं जीवात्मा के अथवा प्रकृति के? इस विवाद का उत्तर खोजने के लिए प्रथम इन शब्दों के स्वरूप पर विचार करना चाहिए क्योंकि कुछ व्यक्ति इस विवाद को बढ़ाने की चेष्टा कर रहे हैं। आर्य जगत् की विभिन्न पत्रिकाओं (परोपकारी, आर्यमित्र, सुधारक आदि) में लेखानुलेख पढ़कर अत्यन्त खेद हुआ। इन लेखों में प्रमुख रूप से मेरे नाम को उद्धृत किया गया है। अतः उत्तर देना उचित समझता हूं।

सुख और दुःख संस्कृत भाषा के अन्वर्थक शब्द तथा समस्त शब्द हैं- '**सु=शोभनं खेभ्यः इन्द्रियेभ्यः**' अर्थात् जो इन्द्रियों को अच्छा लगे उसे सुख कहते हैं। और दुः=दुष्ठु=अशोभनम् खेय्य=इन्द्रियेभ्यः अर्थात् जो इन्द्रियों को अच्छा न लगे उसे दुःख कहते हैं। इसमें शास्त्रीय प्रमाण भी देखे जा सकते हैं।

मार्च, ९६ के दयानन्दसन्देश में मैंने किसी संन्यासी के प्रति अनादर की भावना प्रकट न करके एक यथार्थ बात लिखी थी कि स्वामी जी आप और मैं अहं भावना को त्याग कर विवाद का समाधान ढूंढ़े तो श्रेयस्कर रहेगा। अर्थात्-'वागुक्ता सा यदि वञ्चिता भ्रान्ता व प्रतिपत्तिबन्ध्या वा भवेत्।' वाणी का उपयोग अपने ज्ञान को दूसरों तक पहुँचाने के लिए होता है। यदि यह ठगने वाली, भ्रान्ति पैदा करने वाली अथवा सत्यासत्य, सही या गलत का बोध नहीं कराने वाली है, वह वाणी निरर्थक होती है। इसका भाव या प्रसंग न समझ कर आपने लिखा है यह तो निरर्थक ही लिखा है।

(१) "**यो भोगेष्विन्द्रियाणां तृप्तेरूपशान्तिस्तत् सुखम्।।** (योगभाष्य) १।१४) अर्थात् लौकिक भोगों में इन्द्रियों की तृप्ति से जो उपशान्ति=सान्त्वना मिलती है उसे 'सुख' कहते हैं।"

(२) **येनाभिहताः प्राणिनस्तदुपघाताय प्रयतन्ते तद् दुःखम्।।** (योगभा० समाधि ३९) और जिससे पीड़ित होकर प्राणी उसके नाश के लिए प्रयत्न करते हैं, उसे दुःख कहते है। और वह तीन प्रकार का होता है। -आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक।

(३) **बाधनालक्षणं दुःखम्।। न्याय० ।।**

बाधा=पीड़ा को कहते हैं और उससे अनुबिद्ध प्राणी दुःखी कहलाता है। इसलिए ऋषियों ने एक स्वर से ही इसे जीवात्मा का गुण बताया है।

(४) वैशेषिक दर्शन के "**प्राणापान....**"

(वै० ३।२।४)

सूत्र में भाष्यकार आर्यमुनि लिखते हैं.... (इन्द्रियान्तरविकाराः) धर्म जन्य अनुकूल ज्ञान के विषय का नाम सुख तथा अधर्म जन्य प्रतिकूल ज्ञान का नाम दुःख है।

(४) सुख दुःख का प्रत्यक्ष ज्ञान हमें कैसे होता है। इसकी प्रक्रिया समझाते हुए, न्याय में वात्स्यायन भाष्य में लिखा है कि "**आत्मादिषु सुखादिषु च प्रत्यक्षलक्षणं वक्तव्यम्।**" आत्मादि तथा सुखादि का प्रत्यक्ष कैसे होता है उसका प्रकार समझाते है!- जीवात्मा प्रथम मन से सम्पर्क करता है, मन इन्द्रियों से तथा इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों से सम्बद्ध होकर प्रत्यक्ष कराती है। क्योंकि मन भी इन्द्रि ही है। अतः प्रत्यक्ष के लक्षण में 'इन्द्रियार्थसन्निकर्ष०-' के अन्तर्गत ही आ जाता है।

(६) न्यायदर्शन में ही प्रमेयों की व्याख्या करते हुए लिखा है। आत्मा भोक्ता है, उसके भोग का आधार शरीर है, भोग के साधन नेत्रादि इन्द्रियाँ है। इन्द्रियों के अर्थ ही भोक्तव्य हैं, बुद्धि ही भोग है, और फल तथा दुःख का स्वरूप समझाते हुए लिखा हैं-**ससाधनं सुखदुःखोपभोगः फलम्। जन्म......ससुखसाधनस्य दुःखानुषङ्गात् विविधबधनायोगाद् दुःखम्।।**

अर्थात् सुख-दुःख के साधनों का बुद्धिविषयत्वापन्न

This document is created by GIRDAC PDF Creator Pro trial version
GIRDAC PDF Creator Pro full version does not add this green footer
Full version can be ordered from http://www.girdac.com/Products/Buy.htm

भोग ही फल है। सुख के साधनों का दु:ख से सम्पर्क होना ही दु:ख हैं। इसी बात को इस प्रकार कह सकते हैं।

अनुकूलवेदनीयं सुखं प्रतिकूलवेदनीयं दु:खम्।।

अर्थात् आत्मा के अनुकूलता ही का नाम सुख है और प्रतिकूलता ही दु:ख है।।

(७) महर्षि मनु ने सुख दु:ख की व्याख्या इस प्रकार की है-

सर्वं परवशं दु:खम्, सर्वमात्मवशं सुखम्।।
एतद् विद्यात् समासेन लक्षणं सुखदु:खयो:।।

सुख दु:ख का संक्षेप में यही लक्षण जानना चाहिये अर्थात् दूसरों के अधीन होना ही दु:ख है और अपने अधीन रहना ही सुख है।

इस प्रकार उपरोक्त सुख दु:खों के लक्षणों से यह स्पष्ट होता है कि ये जड़ प्रकृति के गुण न होकर जीवात्मा के ही गुण हैं।

सुख-दु:ख किसके गुण हैं

सुख दु:ख के प्रामाणिक लक्षणों को समझ कर तथा दर्शन के अन्वय व्यतिरेक न्याय को समझकर व्यक्ति स्वयं ही उत्तर ढूंढ़ सकता है, ये किसके गुण हैं। दर्शनों में अन्वयव्यतिरेक न्याय क्या है जिसके होने से जो कार्य हो और न होने से न हो, उसे अन्वय व्यतिरेक कहते हैं। जैसे जीवित व्यक्ति के शरीर पर अग्नि का छोटा सा कण पड़ जाये तो अजीब भयंकर वेदना होती है और मृत्यु के बाद पूरे शरीर को ही चिता पर रख देते हैं परन्तु लेशमात्र भी पीड़ा नहीं होती। अत: स्पष्ट है कि जीवात्मा का शरीर से जब तक सम्बन्ध रहता है तब तक ही दु:ख है।

इससे यह भी स्पष्ट है कि सुख-दु:ख का भोक्ता जीवात्मा ही है। प्राकृतिक अग्नि तो पहले और बाद में भी है। इसीलिए समस्त शास्त्रों में एक मत से यह स्वीकार किया है- **इच्छाद्वेषप्रयत्नसुख-दु:खज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम्।।** अर्थात् जीवात्मा वह हैं जिसमें इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख:दु:ख और ज्ञान हो। महर्षि दयानन्द के ग्रन्थों में स्पष्ट रूप से और सर्वत्र यही लिखा है।

अब दूसरा विचार यह आया है कि ये जीवात्मा के गुण नहीं, ये प्रकृति के हैं। और हम से अपनी मान्यता क विषय में (परोपकारी और आर्यमित्र में) प्रमाण मांगा जा रहा है। हमने बार-बार यह लिखा है कि प्रकृति से बने भोग्य पदार्थ साधन तो हैं किन्तु सुख दु:ख गुण वाले नहीं। यदि उनका सुख-दु:ख गुण हैं तो प्रकृति सुखी व दु:खी होनी चाहिये। क्योंकि यह सर्वमान्य बात है कि गुणी व गुण कदापि पृथक् नहीं हो सकता।

और प्रकृति वा प्रकृति से बने पदार्थो में प्रीति, स्वादु और वे प्रकृति के स्वाभाविक गुण हैं। इस मान्यता को मैं सर्वथा असंगत मानता हूँ। प्राकृतिक स्वादिष्ठ से स्वादिष्ठ भोजन में सस्वादु या प्रीति गुण प्रतीत हो रहा है, परन्तु वह यथार्थ में नहीं है। लोक में कहावत है -''**भूख में गूलर भी पकवान दिखाई देते हैं।**'' भूख यदि नहीं है। तो इनमें ये गुण कहाँ हैं। बहुत मधुर व स्वादु हलुवे के एक से अधिक बार खाने में न तो वह माधुर्य ही रहता है और न वह स्वाद। विविध स्वादिष्ठों से भरा थाल सामने रखा है भुख न होने पर उसको देखकर अनिच्छा होने से वमनादि होने लगती है। यदि ये प्रकृति का स्वाभाविक गुण हैं तो ये गुण तब भी होने चाहिये। और भूख तो आत्मा का गुण है।भूख-प्यास जीवात्मा के गुण मानते हुए महर्षि दयानन्द लिखते हैं।

महर्षि-दयानन्द की मान्यता

प्रश्न-जीव और ईश्वर का स्वरूप गुण, कर्म और स्वभाव कैसा है?

उत्तर-दोनों चेतन स्वरूप हैं। स्वभाव दोनों का पवित्र, अविनाशी और धार्मिकता आदि है। परन्तु परमेश्वर के और जीव के...

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखद:खज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम्। (न्यायसूत्र)। (इच्छा) पदार्थो की प्राप्ति की अभिलाषा (द्वेष) दु:खादि की अनिच्छा वैर, (प्रयत्न) पुरुषार्थ बल (सुख) आनन्द (दु:ख) विलाप, प्रसन्नता (ज्ञान) विवेक पहिचानना ये तुल्य हैं। परन्तु वैशेषिक में (प्राण) प्राण वायु को बाहर निकालना (अपान) प्राण को बाहर

This document is created by GIRDAC PDF Creator Pro trial version
GIRDAC PDF Creator Pro full version does not add this green footer
Full version can be ordered from http://www.girdac.com/Products/Buy.htm

से भीतर को लेना (निमेष) आंख को मीचना (उन्मेष) आँख को खोलना (मन) निश्चय, स्मरण और अंहकार करना (गति) चलना (इन्द्रिय) सब इन्द्रियों को चलाना (अन्तर्विकार) **भिन्न-भिन्न क्षुधा-तृषा, हर्षशोकादि युक्त होना ये जीवात्मा के गुण परमात्मा से भिन्न हैं। इन्हीं से आत्मा की प्रतीति करनी क्योंकि वह स्थूल नहीं है।**

जब तक आत्मा देह में होता है, तभी तक ये गुण प्रकाशित रहते हैं। और जब शरीर छोड़कर चला जाता हे। तब ये गुण शरीर मे नहीं रहते। **जिसके होने से जो हो और न होने से न हो वे गुण उसी के होते है।**

(स० प्र० सप्तम०)

जीव सब का प्रेरक सब का कर्त्ता, साक्षी, कर्त्ता भोक्ता कहाता है। जो **ऐसा कहे कि जीव कर्त्ता-भोक्ता नहीं तो उसको जानो कि वह अज्ञानी, अविवेकी है।** क्योंकि बिना जीव के जो ये सब जड़ पदार्थ हैं। इनको सुख दु:ख का भोग वा पाप-पुण्य का कर्तव्य कभी नहीं हो सकता है। इनके सम्बन्ध से जीव पाप-पुण्यों का कर्त्ता और सुख-दु:खों का भोक्ता है।

जब इन्द्रियाँ अर्थो में मन इन्द्रियों और आत्मा मन के साथ संयुक्त होकर प्राणों की प्रेरणा करके अच्छे वा बुरे कर्मो में लगता है तभी वह बर्हिमुख हो जाता है। (स० प्र० नवम समु०)

इस महर्षि के लेख को समझने का प्रयास करना चाहिये कि जीव सुख-दु:ख, भूख-प्यास, हर्ष-शोकादि गुणों वाला है और गुणों से ही गुणी का ज्ञान होता है। प्रकृति जन्य पदार्थ सुख व दु:ख के कारण तो हैं, किन्तु सुख दु:ख गुण वाले नहीं । इनमें जो सुख दु:ख की प्रतीत हो रही है वह क्षणिक है और वह भी जीवात्मा, इन्द्रियों, मन तथा अर्थ के साथ क्रमश: सम्पर्क में होता है। **जो जीवात्मा के बिना सुख दु:ख का भोग स्वीकार करें वह अज्ञानी और अविवेकी हैं।**

बच्चों के निर्माण में उपेक्षा घातक है

❑ स्वर्गीय पं. राजवीर शास्त्री......

महर्षि दयानन्द लिखते हैं कि- **बालकों को माता सदा उत्तम शिक्षा करें, जिससे सन्तान सभ्य और किसी अंग से कुचेष्टा न करने पावें। जब बोलने लगे तब उसकी माता बालक की जिह्वा जिस प्रकार कोमल होकर स्पष्ट उच्चारण कर सकें, वैसा उपाय करे। जब वह कुछ-कुछ बोलने और समझने लगे, तब सुन्दर वाणी और बड़े छोटे मान्य पिता-माता राजा, विद्वान् आदि से भाषण, उनसे वर्तमान और उनके पास बैठने आदि की भी शिक्षा करें। जिससे कहीं उनका अयोग्य व्यवहार न होके सर्वत्र प्रतिष्ठा हुआ करे।''** (स०प्र० द्वितीय समु०)

बालक न केवल अपने ही वंश का दीपक होता है प्रत्युत राष्ट्र की भी सम्पत्ति होता है। जिस प्रकार राष्ट्र को सुसमृद्ध बनाने के लिए हम सब प्रकार के प्रयत्न करते हैं और सुरक्षा भी करते हैं। बालक के निर्माण में प्रथम गुरू माता होती है। आचर्य चाणक्य लिखते हैं- **लालयेत् पञ्च वर्षाणि** अर्थात् पाँच वर्ष तक बच्चे का लालन पालन माता किया करे। प्रत्येक घर की शान घर में खेलते कूदते बच्चे ही होते हैं। किसी कार्यवश बच्चे घर से बाहर चले जायें, तब घर-घर नहीं, प्रत्युत अरण्य सा लगता है अथवा किसी कारणवश सन्तान का अभाव रहता है। तब माता-पिता परेशान रहते हैं। सन्तान न होना, होकर भी मूर्ख रहना, अथवा दुर्जन हो जाना गृहस्थ का महान् दु:ख होता है। संस्कृत के एक नीतिकार ने लिखा है- **अजात मृत-मूर्खेषु वरमाद्यौ न चान्तिम:। सकृत् क्लेशायैवाद्यौ मूर्खस्तु पदे-पदे।।**

अर्थात् सन्तान न होना मर जाना, इससे कुछ काल के लिए ही दु:ख होता है, परन्तु मूर्ख रहना या असभ्य रह जाना जीवन भर क्लेश देने वाले होते हैं। इसीलिए हमारे पूर्वज ऋषि-महर्षियों ने इन दु:खों से बचने के लिए हमें बहुत पहले ही सचेत किया था।

माता की शिक्षा का समय बालक के प्रथम पाँच वर्ष होते हैं। यद्यपि शिक्षा का समय गर्भस्थ शिशु भी होता है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि बालक अभिमन्यु पर गर्भस्थावस्था में ही चक्रव्यूह-भेदन के संस्कार पड़े थे।

This document is created by GIRDAC PDF Creator Pro trial version
GIRDAC PDF Creator Pro full version does not add this green footer
Full version can be ordered from http://www.girdac.com/Products/Buy.htm

परन्तु यह बहुत तीव्र संस्कार वालों की बात हो सकती है। बच्चा जैसे ही बोलने लगता है, तब उसकी जिज्ञासावृत्ति प्रबुद्ध होती है जिस दशा को माता ही समझती है और उसे समझाती है। बच्चे की तोतली भाषा के भावों को भी समझकर उसका मार्गदर्शन करती है। महर्षि यद्यपि बाल ब्रह्मचारी थे किन्तु ग्रन्थों में लिखी बातें बहुत ही अलौकिक तथा मार्गदर्शन करती हैं।

कन्याओ को शिक्षित करने के लिए महर्षि दयानन्द और उनके शिष्य स्वामी श्रद्धानन्द आदि ने कितना प्रयास किया, वह बहुत ही श्लाघनीय व स्तुत्य है। क्योंकि सुशिक्षित माता ही सन्तान को सुशिक्षित बना सकती है। आज का समय बदल रहा है। आर्थिक समस्या दिन-प्रतिदिन विकराल बनती जा रही है। पुरूषों के साथ माताओं को भी नौकरी करनी पड़ती है। दोनों के सेवा करते हुए बच्चों की देखभाल करने का किसी को समय ही नहीं। अपने दुधमुँहे बच्चों को नौकरी या धाय आदि के सहारे छोड़कर सेवा पर चले जाते हैं, जिससे दोनों मिलकर गृहस्थ के भार का वहन कर सकें।

इन बच्चों के जिज्ञासा भाव को कौन शांत करे,यह भगवान् भरोसे से ही रहता है। बच्चों का जो प्रथम विद्यालय होता है, वह नौकरी पर छोड़ देना कहाँ तक बुद्धि संगत होता है, यह सब अज्ञात अवस्था में ही बीतता है। यह काल ही बच्चों के निर्माण अथवा सीखने का होता है। बच्चों को यह समय नौकरी अथवा धायों के पास ही बिताना पड़ता है। जो समय माता के सान्निध्य में रहकर सद्‌गुणों को सीखने में बीतता है। फिर बच्चों का निर्माण कैसे सम्भव है। यह समय सद्‌गुणों व पारिवारिक व्यवहारों से वंचित हो जाता है, ऐसे बच्चे भविष्य में सभ्य तथा अच्छे नागरिक बन जायेंगे, ऐसी आशा करना दुराशामात्र ही होगी। इस अवस्था में जिज्ञासा के अतिरिक्त ग्रहण करने की शक्ति भी अत्युग्र होती है, बच्चा जिस वातावरण में रहता है, उनकी भाषा को भी बिना सिखायें ही सीख जाता है। जिस भाषा को स्कूल विद्यालयों व महाविद्यालयों में क्रमशः चढ़ते हुए भी बच्चे पूर्ण अधिकार नहीं कर पाते, बच्चे उस भाषा में एम०ए० तक पढ़कर भी पूर्ण से अधिकार नहीं बोल सकते, जैसा अधिकार बच्चे का अपनी मातृभाषा पर होता है। यद्यपि बच्चों को विद्यालय की भांति कोई सिखाता नहीं, किन्तु बच्चा दो-तीन वर्ष की अवस्था में ही अपनी मातृभाषा को सीख जाता है। जिसमें लिंग, वचन की किसी भी प्रकार त्रुटि नहीं करता है, इससे बच्चे की ग्रहण शक्ति का अनुमान आप कर सकते हैं। यही अमूल्य समय माता-पिता से दूर नौकरी व धायों के सान्निध्य में बच्चे बितावें, यह बहुत ही दुर्भाग्य की बात है। छोटे-छोटे बच्चे एक मिट्‌टी के कच्चे घड़े के समान होते है। जैसे आप कच्चे घड़े को जैसा बनाना, मोड़ना चाहते हैं, वह वैसा ही बन जाता है। कच्चे घड़े पर जैसा रंग-रोगन व बेल-बूटे आदि बना देते हैं, अग्नि में पकने पर वे वैसे ही बने रहते हैं। इसी प्रकार जब कोई पौधा छोटा होता है, उसमें अपरिपक्व तनों को इच्छानुसार मोड़ सकते हो, परन्तु बड़े होने पर मोटे-मोटे तनों को नहीं मोड़ा जा सकता अथवा गीली लकड़ी को भी आप मोड़ सकते हो, परन्तु सूखने पर उसका मुड़ना सम्भव नहीं, वह टूट जायेगी, किन्तु मुड़ेगी नहीं। बच्चों का यह काल कच्चे घड़े व पौधों की भांति ही होता है। इस काल को व्यर्थ यापन करना या करने देना बच्चों के भाग्य से खिलवाड़ ही करना है।

बच्चों को अच्छे संस्कार भी माता-पिता व गुरूजनों से ही मिलते हैं। बच्चों में अच्छे संस्कारों को भी अभाव होता जा रहा है। आज हमारे बच्चे विदेशी संस्कारों का सीखते जा रहे हैं। परिवार के गुणों का अभाव दिखाई देता है, इसमें भी माता का शिक्षा न देना ही कारण है। हमारे बच्चे माता-पिता न सीखकर डैडी-मम्मी, अंकल-आंटी आदि सीख रहे हैं। कोई बाहर से आने वाला यदि घर आकर पूछने लगे-''बच्चे तुम्हारी माता जी घर में हैं, या नहीं, तो बच्चे उत्तर देते हैं आप मम्मी से पूछ लो मुझे नहीं पता।'' यह अवस्था है भारतीय बच्चों की, उनसे आशा करना कि वे भारत माता के प्रति श्रद्धा का स्नेह रखेंगे, अपने माता पिता का कैसे आदर करेंगे और भविष्य में माता पिता की बात भी कैसे सुन पायेंगे। अतः अपने तथा पारिवारिक जनों को सुखमय तथा राष्ट्रप्रेम की भावना जागृत करने के लिए हमें सजग होकर ही बच्चों पर विशेष ध्यान देना चाहिए। हमारे क्रान्तिकारी महर्षि ने जो संदेश दिया है, उसकी उपेक्षा करने से हमारा भविष्य अन्धकारमय बनता जा रहा है।क्या भारतीय संस्कृति पर श्रद्धा रखने वाले भारतीय आर्य बन्धु उपर्युक्त महर्षि के लेख पर ध्यान देंगे। भौतिक-धन की अपेक्षा अपने राष्ट्र की धरोहर को सुरक्षित रख पायेंगे।

This document is created by GIRDAC PDF Creator Pro trial version
GIRDAC PDF Creator Pro full version does not add this green footer
Full version can be ordered from http://www.girdac.com/Products/Buy.htm

वैदिक मान्यताएँ और महर्षि दयानन्द

❑ स्वर्गीय पं. राजवीर शास्त्री......

वेदों का महत्त्व

ऋषियों के ग्रन्थ को न पढ़ने से और अनार्ष ज्ञान का प्रचलन होने से सबसे बड़ी हानि यह हुई कि वेदों का गौरव लोग भूल गये थे। महर्षि दयानन्द के आगमन से पूर्व यही प्रसिद्ध हो गया था-

त्रयो वेदस्य कर्त्तारो भाण्ड-धूर्त्त-निशाचराः।

ऐसी विषम परिस्थितियों में महर्षि ने यह घोषणा की-'**वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। वेद ही परम पिता परमात्मा का निर्भ्रान्त ज्ञान है।**' इस घोषणा को सुनकर विदेशी पादरी तथा मुल्ला अपनी-अपनी बाईबिल व कुरान पोथियों को बगल में दाबकर वेदभानु के उदय होने से घोरान्धकार के जन्मे चोर व उल्लू के सदृश इधर-उधर छिपने लगे और ऋषि ने शास्त्रार्थ-समर का आह्वान करके जब सबको ललकारा कि सत्य ज्ञान की परख तर्क व युक्ति के बल से करके दिखाओ-"**यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मो वेद नेतरः।**" अर्थात जो तर्क की कसौटी पर खरा उतरे वही वेद है, दूसरा नहीं।

ऋषियों की सर्वसम्मत मान्यता- वेद के विषय में वैशेषिकदर्शन के रचियता महर्षि कणाद[१] मुनि ने लिखा है-वेद ईश्वरप्रोक्त है, वेद में सत्यविद्याएँ और पक्षपातरहित धर्म का ही प्रतिपादन किया गया है, इसलिए वह परम प्रमाण है। न्यायदर्शन के रचियता गौतम[२] मुनि ने वेद के विषय में लिखा है-सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर जितने भी ब्रह्मादि आप्त पुरूष हुए हैं वे सब वेदों को ईश्वरीय ज्ञान मानते रहे हैं। आप्त पुरूषों का प्रमाण अवश्य मानने योग्य होता है क्योंकि वे धर्मात्मा छल-कपटादि दोषों से रहित, विद्वान् तथा महायोगी थे, अत: उनकी बात उसी प्रकार मानने योग्य है जैसे आयुर्वेद में कहीं औषधियों के सेवन से रोगनिवृत्ति होने से सुख प्राप्त होता है। और योगदर्शन के रचयिता महर्षि पतञ्जलि[३] ने लिखा है-वेदों का ज्ञान सत्य तथा सार्वभौम है। क्योंकि यह ज्ञान सृष्टि के प्रारम्भ में परम गुरू परमेश्वर के द्वारा प्रदत्त है। सांख्यदर्शन के प्रणेता महर्षि कपिल ने लिखा है-परमात्मा की जो स्वाभाविक विद्याशक्ति है उससे वेदों का आविर्भाव होने से वेदों की प्रामाणिकता है। तथा वेदान्त शास्त्र के प्रणेता महर्षि व्यास मुनि ने वेद ज्ञान के विषय में लिखा है- वेद का ज्ञान नित्य तथा सत्य है क्योंकि इसका कारण ब्रह्म ही है। और वेद-ज्ञान प्रदीप की भांति समस्त विद्याओं का प्रकाशक है। इस सूत्र की व्याख्या में आचार्य शंकर को भी यह स्पष्ट करना पड़ा कि वेदों का ज्ञान सूर्य के समान सब सत्य विद्याओं का प्रकाशक है और वेदों का रचयिता सर्वज्ञ परमेश्वर ही है उससे भिन्न कोई जीव नहीं है।

वेद धर्मग्रन्थ है-

धर्मशास्त्र के प्रणेता महर्षि मनु ने इस विषय में बहुत स्पष्ट ही लिखा है-"**धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः।**" अर्थात् जो धर्म का यथार्थ स्वरूप जानना चाहते हैं उनके लिए वेद ही परम प्रमाण है। इसके अतिरिक्त वेद का उपदेश मानव मात्र के लिए किया है, यह भी वेद की अन्त:साक्षी से स्पष्ट होता है-

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।।

(यजु०२६।२)

अर्थात् वेद का उपदेश मानव मात्र के कल्याण के लिए किया है। इसके अतिरिक्त वर्तमान में लोगों ने जो विभिन धर्मग्रन्थ बना लिये हैं। किन्तु वे वेद की समता नहीं रखते। इसका कारण है जैसे सार्वभौम उपदेश मनुष्यमात्र के लिए वेद में हैं वैसे उनमें कहाँ? कतिपय वेद के उपदेश द्रष्टव्य हैं-

This document is created by GIRDAC PDF Creator Pro trial version
GIRDAC PDF Creator Pro full version does not add this green footer
Full version can be ordered from http://www.girdac.com/Products/Buy.htm

१. कृण्वन्तो विश्वमार्यम्।।

अर्थात् विश्व के समस्त मनुष्यों को आर्य (श्रेष्ठ) बनाने का प्रयत्न करो।

२. मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।।

हम सभी मनुष्यों को स्नेहभरी मित्र की दृष्टि से ही देखें और कभी भी किसी के प्रति शत्रुता का भाव न रखें।

३.पुमान् पुमांसं परिपातु विश्वतः।।

प्रत्येक मनुष्य मानवमात्र की रक्षा का व्रत धारण करे।

४. अन्योऽन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्याः।।

हे मनुष्यो! परस्पर इस प्रकार स्नेह किया करो जैसे गाय अपने नवजात बच्चे से स्नेह करती है।

५. सङ्गच्छध्वं संवदध्वम्।।

हे मनुष्यो! उन्नति तथा विकास के लिए मिलकर प्रयास करो और ज्ञान-वृद्धि के लिए परस्पर मिलकर प्रेमपूर्वक संवाद भी किया करो।

६. विद्ययाऽमृतमश्नुते।।

विद्या का फल यह है कि जिसको प्राप्त करके मोक्ष प्राप्ति के लिए प्रयास करता रहे।

७. ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किञ्चिज्जगत्यां जगत्।।

इस संसार में जो कुछ भी है वह सब सर्वव्यापक ईश्वर का है।

८. मा गृधः कस्यस्विद् धनम्।।

हे मनुष्यों! दूसरे के धन को देखकर कभी लालच न कर। यह धन किसका है अर्थात् यह धन (ऐश्वर्य) तो ईश्वर का है।।

९.कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।।

हे मनुष्य! जीवनभर कर्म करते हुए ही जीने की इच्छा कर। कभी भी जीवन में निराश न हो।

१०. सायं प्रातः सौमनसो वोऽस्तु।।

प्रातः सायं यज्ञादि करते हुए उत्तम स्वास्थ्य प्राप्त करो।

महर्षि दयानन्द की देन-

१. प्रत्येक महापुरूष के जीवन में कुछ ऐसी विशेषताएँ होती हैं कि जो दूसरों से विलक्षण होती हैं। यद्यपि ऋषि दयानन्द की देनों की परिगणन करना सम्भव नहीं, फिर भी ऋषि दयानन्द को इतिहास में वेदों वाले के नाम से विश्व सदैव स्मरण करता रहेगा। महर्षि के नाम से प्रचलित संस्थाओं, गुरूकुलों व विद्यालयों में भी विशेष रूप से वेदों के अध्ययन-अध्यापन पर विशेष बल दिया जाता रहा है। वेद ही ईश्वरीय ज्ञान क्यों?इस विषय में आर्यजनों में विशेष चर्चाएं होती रहती हैं। आर्य विद्वान् इस विषय में अनेक ग्रन्थ भी लिखते रहे हैं। यथार्थ में वेद ही वह भानु है, जिसके उदय होने पर समस्त मिथ्या पन्थ, पाखण्ड तथा अवैदिक विचाारधाराएं स्वतः ही छिन्न-भिन्न हो जाती हैं। ऋषि दयानन्द ने वेदों की पुस्तकों को परम प्रमाण मानकर ही विश्व के धर्माचार्यो को चैलेंज किया था। वेदान्तदर्शन में -**तत्तु समन्वयात्।।**

अर्थात् इस सृष्टि का रचयिता परमात्मा है इसलिए परमात्मा का भी वही ज्ञान का पुस्तक सत्य हो सकता है। जिसमें सृष्टि के साथ समन्वय मिलता है। कुरान बाईबिल आदि ग्रन्थ इस कसौटी पर खरे नहीं उतरते।

२. ऋषि दयानन्द के आगमन से पूर्व वेद का ज्ञान कर्मकाण्ड तक ही सीमित हो गया था। और कर्मकाण्ड भी अनेक ऐसी गलत मान्यताओं से घिर गया था, जो कि वेद विरूद्ध थीं। ऋषि ने आकर यह घोषणा की-कि वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है।और इसमें सब व्यावहारिक और पारमार्थिक विद्याएँ हैं। यज्ञों में तथा देवी मन्दिरों में होने वाली हिंसाए वैदिक सद्धर्म के प्रचार से बन्द होने लग गई हैं।

३. ऋषि ने हमें बताया कि विश्व में समस्त ज्ञान-विज्ञान वेद से ही फैला है। वेद में शिक्षा, समाज, गृहस्थ, राजनीति, आयुर्वेद, भौतिक ज्ञान-विज्ञान, गणित विद्या, ज्योतिष आदि हैं। व्यक्ति, राष्ट्र तथा समस्त विश्व की उन्नति के लिए जो भी ज्ञान-विज्ञान हैं, सभी वेदों में विद्यमान हैं। ऋषि ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में इसका दिग्दर्शन भी कराया है।

This document is created by GIRDAC PDF Creator Pro trial version
GIRDAC PDF Creator Pro full version does not add this green footer
Full version can be ordered from http://www.girdac.com/Products/Buy.htm

४. ऋषि ने यज्ञ की विशुद्ध पद्धति का प्रचलन किया। ऋषि के आगमन से पूर्व यज्ञ के विषय में बड़ी भ्रान्तियां थीं। यज्ञों के नाम पर बहुत अधिक मिथ्या आडम्बर थे जो कि सामान्य जन कर ही नहीं सकते थे। यज्ञ स्वास्थ्य के लिए अतीव आवश्यक है और यह एक दैनिक कर्त्तव्य है। प्रत्येक मनुष्य को यज्ञ का करना उसी तरह आवश्यक है जैसे प्रतिदिन भोजन करना। सुखी बनने के लिए यज्ञ करना परमावश्यक है। ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, अतिथियज्ञ और बलिवैश्वदेवयज्ञ, ये पांच दैनिक यज्ञ हैं। जो कि प्रत्येक गृहस्थ को प्रतिदिन करने चाहिए।

५. वेदों के विषय में भी अनेक भ्रान्तियाँ प्रचलित हो गई थीं। वेदों के अतिरिक्त ब्राह्मण ग्रन्थों व अनेक शाखाओं को भी वेद माना जाने लगा था। वेद तथा अन्य ग्रन्थों का विश्लेषण करके समझाया कि वेद क्या है? वेद मूल चार संहिताओं का ही नाम है।

६. स्वर्ग नरक की मिथ्या कल्पनाओं का ऋषि ने निराकरण किया। ऋषि से पूर्व स्वर्ग-नरक किसी स्थान विशेष की कल्पनाएं थीं। जहां पर जीवों को मरणोत्तर अपने शुभाशुभ कर्मो के अनुसार जाना पड़ता है। स्वर्ग में देवता रहते हैं। जिनका राजा इन्द्र है.....यज्ञों के अवसर पर आह्वान करने पर वे अपने वाहनों में बैठकर आते जाते हैं। ऋषि ने आकर स्वर्ग-नरक का यथार्थ स्वरूप समझाया और वेद के आधार पर वेदों में पठित स्वर्ग-नरक का यथार्थ स्वरूप समझाया और वेद के आधार पर वेदों में गठित स्वर्ग-नरक शब्दों की शास्त्रीय विवेचना भी की।

७. वेद पढ़ने का अधिकार मानवमात्र को दिलवाया-महर्षि के आगमन से पूर्व ''**स्त्रीशूद्रौ नाधीयाताम्।**'' ऐसे ऐसे वाक्यों के आधार पर वेद-विद्या पढ़ने पर भी पाबन्दियाँ लगा रखी थीं। महर्षि ने आकर बताया कि हम सब एक परमेश्वर की सन्तान हैं। इसलिए जैसे परमेश्वर प्रदत्त, वायु, जल, भूमि आदि पर सब का समान अधिकार है, वैसे ही परमेश्वर की वेदविद्या पर सब को पढ़ने का अधिकार है।

८. वेदार्थ करने की प्राचीन शास्त्रीय पद्धति का प्रचलन किया। जिसके आधार पर मन्त्रों का प्रकरणानुसार सत्यार्थ का प्रकाश होता है। और वेदार्थ से होने वाली समस्त भ्रान्तियों का उन्मूलन हो जाता है। जैसे वेद में इतिहास और वेद में विभिन्न कल्पित शरीरध ाारी देवी देवताओं की कल्पना। वेद के समस्त पद यौगिक होते हैं और ये पद योग-धातु प्रत्यय के अनुसार प्रकरणानुसार अर्थ का बोध कराते हैं।

९. मन्त्रों के देवता मन्त्र के प्रतिपाद्य विषय होते हैं। ऋषि के आगमन से पूर्व इस बात का बिल्कुल ही भूल गए थे। जिस भूल के कारण पौराणिक सायणाचार्य जैसे विद्वान् अर्थ का अनर्थ कर गये। और ऋषि दयानन्द को यह लिखना पड़ा कि सायणादि के भाष्य मिथ्या हैं। द्रेवता को स्पष्ट करने से पूर्व-मन्त्र की संगति यथार्थ लगती है और मन्त्र से भिन्न कल्पित कथा-आख्यानों का प्रत्याख्यान हो जाता है।

१०. महर्षि-दयानन्द के वेदभाष्य की यह भी अपूर्व देन है कि महषि ने वेद की काव्यमयी भाषा को समझकर उपमालंकार, श्लेषालंकार आदि की व्याख्या के द्वारा वेदमन्त्रों की व्यावहारिक व परमार्थिक सरल व्याख्या हमारे सामने रखी और उससे ''वेद गडरियों के गीत हैं'' ऐसी विदेशी विद्वानों की भ्रान्तियों का स्वत: ही निराकरण हो जाता है।

चारों वेदों को त्रयी क्यों कहा जाता है:

वेद चार हैं, यह निर्भ्रान्त मान्यता है परन्तु उन्हें त्रयी क्यों कहा जाता है? इसका समाधान यह है कि चारों वेदों की जो मन्त्र रचना की गई है वह तीन प्रकार की है। वेदों में कुछ मन्त्र 'ऋक्' प्रकार के हैं, कुछ मन्त्र 'साम' प्रकार के हैं और कुछ मन्त्र 'यजु' प्रकार के हैं। मीमांसादर्शन में महर्षि-जैमिनी ने मन्त्रों के तीनों प्रकारों का उल्लेख करके इन मन्त्रों के भेदों को स्पष्ट किया है।

'ऋक्' के सम्बन्ध में जैमिनी मुनि लिखते हैं-

This document is created by GIRDAC PDF Creator Pro trial version
GIRDAC PDF Creator Pro full version does not add this green footer
Full version can be ordered from http://www.girdac.com/Products/Buy.htm

ऋग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था। (मीमांसा २।१।३५)

अर्थात् जिन मन्त्रों में पाद-व्यवस्था है। छन्दोबद्ध मन्त्रों में पाद-चरण व्यवस्था होती है, वे मन्त्र 'ऋक्' अथवा 'ऋचा' कहे जाते हैं।

गीतिषु सामाख्या।। (मीमांसा २।१।३६)

जो वेद मन्त्र संगीत में ढालकर गीति के रूप में गाये जाते हैं, वे 'साम' कहे जाते हैं।

शेषे यजुः शब्दः।। (मीमांसा २।१।३७)

तीसरे प्रकार के वेदमन्त्र हैं जिनमें पाद-व्यवस्था नहीं है। छन्दोबद्ध न होने से गीति रूप में गाए नहीं जा सकते, उन गद्यात्मक मन्त्रों को 'यजु' कहा जाता है।

ऋग्वेद में प्राय: सभी मन्त्र छन्दोबद्ध हैं, इसलिए यह वेद ऋग्वेद अर्थात् ऋचाओं का वेद कहा जाता है। सामवेद में सभी मन्त्र ऐसे हैं जिन्हें गीति रूप में गाया जाता है, अत: उसका नाम सामवेद है। यजुर्वेद में यजु. वाक्य-गद्य वाक्य अन्य वेदों की अपेक्षा अधिक हैं। इसलिए इसका नाम यजुर्वेद है। और अथर्ववेद में उक्त तीनों प्रकार के मन्त्र हैं। इस प्रकार रचना की दृष्टि से चारों वेदों को वेद त्रयी कहा जाने लगा। ऋक्सर्वानुक्रमणी के वृत्तिकार षडगुरु-शिष्य ने भी भूमिका में लिखा है-

ऋक् पादबद्धो गीतस्तु साम गद्यं यजुर्मन्त्रः
चतुर्ष्वपि हि वेदेषु त्रिधैव विनियुज्यते।।

अर्थात् वेदमन्त्रों की रचना के विषय में उपरोक्त मीमांसादर्शन का ही समर्थन किया है। ऋग्वेद में पादव्यवस्था, सामवेद में गानविद्या और यजुर्वेद में गद्यात्मक ही प्राय मन्त्र है। अथर्ववेद में इन तीनों का ही मिश्रण है। इस प्रकार चारों वेदों को त्रयी विद्या के नाम से भी जानते हैं।

वेदों में पुनरूक्ति दोष नहीं है-

वेदों के स्वाध्यायशील व्यक्ति कभी-कभी ऐसी आशंकाओं से ग्रस्त होकर शंकाएं करते रहते हैं। जैसे-

एक ही मन्त्र वेद में अनेक स्थानों पर दुहराया गया है, यह क्या पुनरूक्त दोष नहीं है? ऐसा वेदों में मिलता है। महर्षि दयानन्द ने इसका उत्तर दिया है-गान भेद से अथवा विद्या विशेष बोध के लिए एक ही मन्त्र अनेक बार पढ़ा गया है। जो श्रद्धालु व्यक्ति हैं उन्हें तो ऐसा दोष नहीं लगता किन्तु अनुसन्धान करने वाले को ऐसा खलता है। कहा भी है-

तदप्रामाण्यम् अनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः।।न्याय।

अर्थात् वह वचन प्रामाणिक नहीं माना जा सकता जिसमें तीन दोष हों-मिथ्या, परस्पर विरूद्ध तथा पुनरुक्त।

इस पुनरुक्ति दोष के विषय में आचार्य यास्क ने निरुक्त में विचार करते हुए बताया है-पुनरुक्त दोष वहां होता है जब एक ही मन्त्र में समानार्थक दो शब्दों का प्रयोग हुआ हो जैसे (ऋ०४।५७।२) मधुमन्तम् और मधुश्चुतम् दो शब्दों का प्रयोग है। इसी प्रकार ऋ०२।३५।१० मन्त्र के प्रथम चरण में हिरण्यरूप: और हिरण्यसन्दृक् दो समानार्थ शब्दों का प्रयोग मिलता है। आचार्य यास्क ने पूर्वपक्ष दिखाकर फिर उत्तर पक्ष भी दिया है-यहां पुनरुक्त दोष मानना ठीक नहीं। परन्तु सूक्ष्मता से विचार करने पर उसका उत्तर मिलता है कि दो समानार्थक शब्द प्रतीत होते हुए भी उनमें कुछ विशेष तात्पर्य अवश्य प्रकट होता है।

यथा कथा च विशेषो अजाभिभवतीत्यपरम्।
मण्डूका इवोदकान् मण्डूका उदकादिव।।

यद्यपि यास्काचार्य ने यहां कुछ स्पष्टीकरण नहीं किया अथवा यह समझकर यहां शब्द-बोध होने से ही जान लेंगे। यह मन्त्र ऋ० १०।११६।५ मन्त्र का भाग है। यहां क्या वर्णन किया गया है इसका स्पष्टीकरण करते एक विद्वान् लिखते हैं-

यहां एक राजा अपने राज्य के विद्रोहियों से कह रहा है- तुम्हें विद्रोह की बातें नहीं करनी चाहिए। यदि तुम्हें राज्य में कुछ परेशानी हो तो अपनी बातें रख सकते हो। तुम मेरे राज्य में रहकर देशभक्ति या देश सेवा की बातें करो और आनन्द से रहो। जैसे मेंढक जल में रहकर प्रसन्नता से आनन्द से बोलते हैं। तुम्हें भी मेरी रक्षा तथा व्यवस्था से सुख रूप जल मिलेगा। और यदि ऐसा न करोगे तो तुम्हें सुरक्षा, सुख व शान्ति प्राप्त नहीं

This document is created by GIRDAC PDF Creator Pro trial version
GIRDAC PDF Creator Pro full version does not add this green footer
Full version can be ordered from http://www.girdac.com/Products/Buy.htm

होगी। (आ०प्रियव्रत जी)

इस प्रकार मन्त्र में पुनरूक्ति दोष प्रतीत तो होता है, परन्तु उपमा के द्वारा जो भाव व्यक्त किया गया है उससे दोष का परिहार हो जाता है। इसी तरह 'मधुमन्तं मधुश्चुतम्' तथा 'हिरण्यरूपः हिरण्यसन्दृक्' में भी पुनरुक्ति दोष नहीं है। इन दोनों स्थलों का अपना-अपना विशेष अभिप्राय है। कोई पदार्थ मधुयुक्त हो तो सकता है परन्तु यह आवश्यक नहीं कि उससे मधु क्षरित भी होता हो। मन्त्र मे जिस वस्तु की कामना की गई है उसमें मधु के सदृश माधुर्य भी हो, उसके सेवन से मधु जैसे गुण सेवन करने वाले में पहुंचकर क्षरित भी हो रहे हों।

इसी प्रकार कोई पदार्थ हिरण्यरूप हो सकता है किन्तु यह आवश्यक नहीं है वह हिरण्य जैसा दिखाई भी देवे। मन्त्र में अपांनपात् 'अग्नि हिरण्य रूप तो है और हिरण्य जैसा दिखाई देना चाहिए। किसी आवरण आदि के कारण ढका हुआ न हो। इस प्रकार दोनों स्थलों की संगति लग जाती है। यास्काचार्य के अनुसार साभिप्राय पुनरुक्ति दोषयुक्त नहीं कहलाती। उनके अनुसार वेद की पुनरुक्ति पर विचार किया जाए तो प्रतीत होगा कि पुनरूक्ति साभिप्राय है।

महर्षि दयानन्द के वेदभाष्य से भी यही स्पष्ट होता है कि वे यास्क के मत को ही पूर्णतः मानते हैं। जैसे यजुर्वेद के ३७वें अध्याय में ८वें मन्त्र में 'मख' शब्द १५ बार पठित है। ऋषि भाष्य में उनके विभिन्न अर्थ द्रष्टव्य हैं-

ब्रह्मचर्य रूपी यज्ञ, विद्या ग्रहणानुष्ठान, ज्ञान, मनन, गार्हस्थ्य, व्यवहार, गृह, गृहस्थ, कार्यसंगतिकरण, सद्व्यवहारसिद्धि, योगाभ्यास,साङ्गोपाङ्गयोग और ऐश्वर्य इतने मख शब्द के अर्थ दिये हैं।

इसी प्रकार दोबारा आए वेदमन्त्र का भी ऋषि प्रसंग और प्रकरण के अनुसार भिन्न-भिन्न अर्थ करते हैं। स्पष्ट है कि पुनरुक्त और दुबारा पठित मन्त्र का भी प्रकरण के अनुसार दूसरा अर्थ हो जाता है।

एक अन्य मन्त्र में भी द्रष्टव्य है-''अग्ने नय सुपथा०'' यह मन्त्र यजुर्वेद में तीन बार पठित है। तीनों ही स्थानों पर ऋषि का मन्त्रार्थ अलग अलग अभिप्राय से प्रकरणानुसार किया है। इसी प्रकार सम्पूर्ण सामवेद में १०४ मन्त्रों को छोड़कर शेष मन्त्र ऋग्वेद के ही हैं। यहाँ भी गानभेद से तथा प्रकरण भेद से पुनरुक्ति दोष का परिहार समझना चाहिए। और ऋग्वेद में ज्ञान-काण्ड, यजुर्वेद में कर्म-काण्ड, सामवेद में उपासना-काण्ड, तथा अथर्ववेद में विज्ञान-काण्ड के भेद से भी अर्थ भेद किये जा सकते हैं।

वेदार्थ जानने के अधिकारी कौन है?

वेद परमात्मा की पवित्र वाणी है। और वह सार्वभौम सार्वकालीन तथा मानव मात्र के लिए है। साक्षात्-द्रष्टा ऋषियों की बात छोड़िये कि उन्होंने वेदमन्त्रों तथा उनके अर्थो का साक्षात्कार किया। सामान्य व्यक्ति तो वेद को जानने के लिए ऋषि प्रणीत वेद वेदांगों को पढ़कर ही वेदज्ञ बन सकते हैं अन्यथा नहीं। उनको निम्नलिखित उपाय अपनाने आवश्यक हैं।

(१) व्याकरणादि वेदांगों का अध्ययन- वेद के समस्त पद यौगिक हैं और धातुप्रत्यय के योग से प्रकरणानुसार अर्थो के बोधक होते हैं। और यह यौगिक ज्ञान बिना व्याकरण के सम्भव नहीं है। इसलिए कहा गया है-

रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणम्। प्रधानं च षडङ्गेषु व्याकरणम्। प्रधाने च कृतो यत्नः फलवान् भवति। ब्राह्मणस्य निष्कारणो धर्मः-षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च। (महर्षि पतञ्जलि)

अर्थात् वेदों की रक्षा के लिए व्याकरण पढ़ना चाहिये। छः अंगों में व्याकरण मुख्य है। मुख्य में किया गया यत्न अवश्य फलप्रद होता है। ब्राह्मण ब्रह्म वेत्ता बनने के लिए यह परमावश्यक होता है-छः अंगों सहित वेदों को पढ़ना और पढ़ाना।

(२) निरुक्त व ब्राह्मण ग्रन्थों का अनुशीलन- यद्यपि निरुक्त भी वेदांगों के अन्तर्गत ही है। पुनरपि इसका कथन इसलिए आवश्यक है कि निरुक्त शास्त्र

This document is created by GIRDAC PDF Creator Pro trial version
GIRDAC PDF Creator Pro full version does not add this green footer
Full version can be ordered from http://www.girdac.com/Products/Buy.htm

वेदार्थ दीपक है। और ब्राह्मण ग्रन्थ वेदों के व्याख्या ग्रन्थ हैं। और निरुक्त से तो व्याकरण की सम्पूर्णता ही होती है।

(३) छः शास्त्रों का सम्यक् अनुशीलन- ऋषि दयानन्द की अनुकम्पा से छः शास्त्रों का वेदार्थ में महत्व पता लगा है। अन्यथा मध्यकालीन वेद-भाष्यकारों ने इनकी सर्वथा उपेक्षा ही की थी। और उसी का परिणाम है आचार्य शंकर भी अविद्याग्रस्त रहकर 'अविद्या' को ही नहीं समझ सके।

(४) योगसाधक तथा तपस्वी बनना- केवल शब्दार्थ बोध से और शास्त्रीय ज्ञान के बल से वेद के सत्यार्थ का बोध करना सम्भव नहीं है। इसलिए कहा है- **न ह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वा।।**

इस निरुक्त वचन की व्याख्या में महर्षि दयानन्द लिखते हैं-'' वेदों के व्याख्यान करने के विषय में ऐसा समझना चाहिए कि जब तक सत्य प्रमाण, सुतर्क, वेदों के शब्दों पर पूर्वापर प्रकरणों, व्याकरणादि वेदाङ्गों, शतपथादि ब्राह्मणों, पूर्वमीमांसादि शास्त्रों और शाखान्तरों का यथावत् बोध न हो और परमेश्वर का अनुग्रह,उत्तम विद्वानों की शिक्षा, उनके संग से पक्षपात छोड़ के -आत्मा की शुद्धि न हो तथा महर्षि लोगों के किये व्याख्यानों को न देखें, तब तक वेदों के अर्थ का यथावत् प्रकाश मनुष्य के हृदय में नहीं होता।''(ऋ.भा.भू.वेदविषय)

इससे स्पष्ट है कि शास्त्रों के ज्ञान के अतिरिक्त वेदार्थ समझने के लिए ऋषित्व बुद्धि तथा तपस्वी भी होना चाहिए। जो मलीनान्तःकरण पक्षपातादि दोषों से तथा काम क्रोधादि व्यसनों के कारण पवित्र मन वाले नहीं है।, वे वेद के पवित्र मन्त्रों के अन्तर्निहित अर्थों को जानने में कदापि समर्थ नहीं हो सकते। ऋषि दयानन्द ऋ०भा०भू० के पठन-पाठन विषय में लिखते हैं-

''मनुष्य लोग वेदार्थ को जानने के लिए अर्थ योजना सहित व्याकरण-अष्टाध्यायी, धातुपाठ, उणादिकोष, गणपाठ और महाभाष्य, शिक्षा, कल्प, निघण्टु, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष ये छः वेदों के अङ्ग मीमांसा, वैशेषिक, न्याय, योग, सांख्य और वेदान्त से छः शास्त्र जो वेदों के उपाङ्ग अर्थात् जिनसे वेदार्थ ठीक-ठीक जाना जाता है तथा ऐतरेय शतपथ साम और गोपथ ये चार ब्राह्मण, इन सब ग्रन्थों को क्रम से पढ़के अथवा जिन्होंने इन सम्पूर्ण ग्रन्थों को पढ़के जो सत्य-सत्य वेद व्याख्यान किये हों, उनको देख के वेद का अर्थ यथावत् जान लेवें।

इससे स्पष्ट होता है कि वेदार्थ जानने के योग्य बनने के लिए ६ वेदांग, ६ उपाङ्ग, ६ शास्त्र तथा ४ ब्राह्मण ग्रन्थों का पढ़ना अत्यावश्यक है। जो व्यक्ति इन ऋषि ग्रन्थों का अनुशीलन न करके सीधे ही वेदार्थ समझने का साहस करते हैं वे वेदार्थ के पथ से भ्रष्ट ही समझने चाहिए।

इस शास्त्रीय विद्या के अतिरिक्त वेदभाष्य करने वाले को योगी भी बनना आवश्यक है। ऋषिवर के जीवन में ऐसी घटना सुनी जाती है कि महर्षि पण्डितों से वेदभाष्य लिखवाते जाते थे और मध्य-मध्य में एकान्त में जाकर समाधिस्थ होकर ईश्वर के सानिध्य से वेदार्थ को स्पष्ट भी करते रहते थे। इसलिए शास्त्रों का विद्वान् तथा योगी दोनों ही वेदभाष्य करने वाले की योग्यताएँ परमावश्यक हैं।

वैदिक-पद आख्यातज हैं

वेदों के पद आख्यातज होते हैं, रूढ़ नहीं। आख्यातज का अभिप्राय है प्रकृति-प्रत्यय के योग से जो अर्थ स्पष्ट होता है। और रूढ़ का अर्थ है जो पद लोक में व्यक्ति विशेष अथवा स्थानविशेष के लिए प्रसिद्ध हो गए हैं। उनमें प्रकृति-प्रत्यय के अर्थ की कोई संगति नहीं होती। वेदों का आविर्भाव सृष्टि के आदि में हुआ। वेद ईश्वरीय ज्ञान हैं, अतः उनमें लौकिक पदार्थों व्यक्तियों तथा स्थानों का वर्णन हो भी नहीं सकता।

महर्षि यास्क निरुक्त में वैदिक-पदों को आख्यातज मानते हुए लिखते हैं- **तत्र नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च।** (निरु०१।१२) अर्थात् वैदिक पद आख्यातज होते हैं, यह सभी निरुक्तकार तथा महर्षि शाकटायन मानते हैं। यस्काचार्य ने इस पक्ष

This document is created by GIRDAC PDF Creator Pro trial version
GIRDAC PDF Creator Pro full version does not add this green footer
Full version can be ordered from http://www.girdac.com/Products/Buy.htm

के विरूद्ध गार्ग्यादि के मत का अच्छी प्रकार खण्डन किया है। वेदार्थ ज्ञान के लिए निरुक्त का अध्ययन अत्यावश्यक है। और निरुक्तकार की इस मान्यता को सभी वेदभाष्यकारों को मानना चाहिए। बृहद्देवताकार ने भी '**न हि नामान्यविज्ञाय मन्त्रः शक्यो हि वेदितुम्**'।। (१।८०) यह कहकर यास्क के मत को स्वीकार किया है।

महर्षि दयानन्द ने अपने वेद-भाष्य में इस मान्यता का पूर्णतः पालन किया है।किन्तु सायणाचार्यादि भाष्यकार इस मान्यता को छोड़ने से वेदों का मिथ्या अर्थ कर गए हैं। उन्होंने इस प्राचीन शैली को त्यागकर अनित्य पदार्थो, व्यक्तियों तथा स्थानों का वर्णन वेदार्थ में दिखाया है। जिससे वेदों के सम्बन्ध में यह मिथ्या धारणा प्रसिद्ध हुई कि वेदों में अनित्य इतिहास है। किन्तु ईश्वर प्रोक्त शाश्वत ज्ञान वेदों में अर्वाचीन व्यक्ति विशेषादि का वर्णन कैसे सम्भव है? गंगा, यमुनादि लोक-प्रसिद्ध नदियों का वर्णन वेदों में जो मानते हैं, उन्हें मनु के इस श्लोक पर ध्यान देना चाहिए।

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे।।
(मनु०१।२१)

अर्थात् सृष्टि के प्रारंभ में सांसारिक वस्तुओं, स्थानों अथवा व्यक्तियों के नाम वेद के शब्दों को लेकर ही रखे गए। अतः वेदों में उनका इतिहास नहीं हो सकता।

कुछ विद्वान इस 'आख्यातज' मान्यता का भी दुरूपयोग करते देखे गए हैं। इस प्रक्रिया का आश्रय करके स्वाभीष्ट वेदार्थ करने का दुस्साहस भी किया करते हैं। किन्तु उन्हें सदा यह स्मरण रखना चाहिए कि यह ठीक है, मन्त्र के प्रतिपाद्य विषय देवता इन्द्रादि के भी अनेक अर्थ होते हैं और धातुएँ भी बह्वर्थक होती हैं। किन्तु मन्त्रों के प्रतिपाद्य विषय का भी मन्त्र-पठित पदों से एक निश्चित अर्थ ही सम्भव है, और देवता के अनुसार धातुओं का अर्थ भी निश्चित ही हो जाता है। अतः प्रकरणविरूद्ध अर्थ करने का किसी को भी अधिकार नहीं है। यौगिक प्रक्रिया का आश्रय करके जिन विद्वानों ने अपनी यह मान्यता बना ली है कि प्रत्येक मन्त्र के त्रिविध-आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक अर्थ होते हैं, यह शैली मिथ्या ही है। और अपनी मान्यता का निर्वाह ऐसे विद्वान् श्री वैद्यनाथ जी शास्त्री आदि अपने वेद-भाष्यों में नहीं कर सके हैं।

उदाहरणस्वरूप '**स पर्यगाच्छुक्रमकायम्०**' (यजु०) मन्त्र का त्रिविध प्रक्रिया से कैसे अर्थ सम्भव हो सकता है? इस मन्त्र में जो पद पठित हैं, उनसे सर्वव्यापक, शरीरादि से रहित परमात्मा का वर्णन किया गया है,उन्हीं पदों का जीवपरक अथवा प्रकृतिपरक अर्थ कैसे सम्भव होगा? क्या ईश्वर, जीव तथा प्रकृति के सभी गुण समान हो सकते हैं? अतः त्रिविध प्रक्रिया के मानने वालों को अपनी मान्यता पर पुनः विचार करना चाहिए। इस विषय में महर्षि दयानन्द की बहुत स्पष्ट यह मान्यता है-''जहाँ-जहाँ सर्वज्ञादि विशेषण हों, वहाँ-वहाँ परमात्मा और जहाँ इच्छा, द्वेष प्रयत्न, सुख, दुःख और अल्पज्ञादि विशेषण हों, वहाँ-वहाँ जीव का ग्रहण होता है।'' (सत्यार्थ०प्रथम समु०)

मन्त्रार्थ में त्रिविध प्रक्रिया को मानने वाले विद्वान् अपने पक्ष में निम्न निरुक्त का प्रमाण भी दिया करते हैं-

तास्त्रिविधा ऋचः परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृता आध्यात्मिक्यश्च।। (निरु०७।१)

किन्तु इससे उनके पक्ष की पुष्टि नहीं होती, प्रत्युत स्पष्ट खण्डन ही होता है। क्योंकि इसी स्थल पर आगे इनका लक्षण लिखा है। अर्थात् पुरूष व सर्वनाम के प्रयोग का निर्धारण भी किया गया है। महर्षि दयानन्द इसका अर्थ करते हुए लिखते हैं-

''वेदों के सब मन्त्र तीन प्रकार के अर्थो को कहते हैं। कोई परोक्ष अर्थात् अदृश्य अर्थो को, कोई प्रत्यक्ष अर्थात् दृश्य अर्थो को, और कोई अध्यात्म अर्थात् ज्ञानगोचर आत्मा और परमात्मा को। उनमें से परोक्ष अर्थ के कहने वाले मन्त्रों में प्रथम पुरूष प्रत्यक्ष अर्थ के

This document is created by GIRDAC PDF Creator Pro trial version
GIRDAC PDF Creator Pro full version does not add this green footer
Full version can be ordered from http://www.girdac.com/Products/Buy.htm

कहने वालों में मध्यम पुरूष तथा अध्यात्म अर्थ के कहने वाले मन्त्रों में उत्तम पुरूष पचामीत्यादि क्रिया आती हैं।'' (ऋ०भू० प्रश्नोत्तरविषय:)

इससे स्पष्ट है कि प्रत्येक मन्त्र के त्रिविध अर्थ सम्भव नहीं हैं।

वेदसंज्ञा-विचार

प्रश्न-वेद किन ग्रन्थों का नाम है?

उत्तर-ऋक् यजु: साम और अथर्व मन्त्रसंहिताओं का नाम वेद है, अन्य का नहीं।

शबर, शङ्कर, कुमारिल, मेधातिथि, वाचस्पतिमिश्र, रामानुज, उव्वट, सायण इत्यादि मध्यकालीन सभी वेदभाष्यकार मन्त्रसंहिताओं और ब्रह्मणों को वेद मानते आए हैं। गत ३००० वर्षो में आर्यावर्त के किसी विद्वान् को इस बात का सन्देह नहीं हुआ कि ब्राह्मण ग्रन्थ वेद नहीं है। २० वीं शताब्दी (विक्रमी) में महर्षि दयानन्द सरस्वती ने इन सब के विरूद्ध इस बात का प्रकाश किया कि ब्राह्मण-ग्रन्थ वेदों के व्याख्यान हैं वेद नहीं। वेद ईश्वरीय ज्ञान है और ब्राह्मण ऋषि प्रणीत हैं।

प्रश्न-(क) **मन्त्र-ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्।।** (कात्यायनपरिशिष्ट प्रतिज्ञासूत्र)

(ख) **मन्त्र-ब्राह्मणं वेद इत्याचक्षते।।** (बौधायन गृह्यसूत्र २।६।३)

इत्यादि प्रमाणों से ब्राह्मणों का भी नाम वेद सिद्ध होता है।

उत्तर-(१) वेद-संहिता पुस्तक के प्रारम्भ में तथा अध्याय की समाप्ति पर सनातन काल से वेद शब्द लिखा आता है। किन्तु ब्राह्मण पुस्तकों के प्रारम्भ व अध्याय की समाप्ति पर कहीं भी वेद शब्द लिखा नहीं मिलता। अत: ब्राह्मणभाग का नाम वेद नहीं है।

(२) ब्राह्मण ग्रन्थों के नाम इतिहास, पुराण कल्प, गाथा और नाराशंसी भी हैं। वे ईश्वरोक्त नहीं है किन्तु महर्षियों के किये वेदों के व्याख्यान हैं। ये वचन कात्यायनादि ऋषियों के भी नहीं हो सकते। किन्तु किसी धूर्त्तराट् ने कात्यायन ऋषि के नाम से बनाकर प्रसिद्ध किए हैं। यदि वे वाक्य ऋषियों के होते हो दूसरे ऋषियों की प्रतिज्ञा से विरूद्ध नहीं हो सकते थे। कात्यायन से भिन्न किसी अन्य ऋषि ने ब्राह्मण ग्रन्थों को वेद नहीं माना है। यदि कोई कात्यायन मुनि का वचन का ही आग्रह करे, तो क्या वह पाणिनि आदि दूसरे ऋषियों को आप्त नहीं मानना चाहता। क्या एक विषय में परस्पर विरोधी दो वचन सत्य हो सकते हैं?और एक के वचन को मानकर सैकड़ों आप्त ऋषियों का विरोध करना विद्वानों को शोभा नहीं दे सकता।

प्रश्न- जैसे आप वेदों में पठित जमदग्नि, कश्यपादि शब्दों का व्यक्ति परक अर्थ न मानकर चक्षु, प्राणादि अर्थ करके वेदों में इतिहास का निषेध कर रहे हैं, इसी प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों में पठित याज्ञवाल्क्यादि शब्दों के भी दूसरे अर्थ करके ब्राह्मणों को भी वेद क्यों नहीं स्वीकार करते।

उत्तर-ब्राह्मणग्रन्थों में याज्ञवल्क्यादि देहधारियों की कथाएँ लिखी हैं, जैसा देहधारियों का परस्पर व्यवहार होता है, वैसा ही वहाँ लिखा है। अत: ब्राह्मणग्रन्थों में व्यक्तिविशेषों का इतिहास है वेदों में नहीं। जो वेदों में इतिहास होते, तो वेद प्राचीन शाश्वत ईश्वरीय ज्ञान नहीं हो सकते। क्योंकि जिसका इतिहास जिस ग्रन्थ में लिखा होता है, वह ग्रन्थ उस मनुष्य के बाद का होता है।

प्रश्न- आप वेदों को स्वत: प्रमाण मानते हैं। और ब्राह्मणग्रन्थों को परत: प्रमाण। जब ब्राह्मणग्रन्थों को आप वेदों का व्याख्यान मानते हैं, तो ब्राह्मणग्रन्थों को भी स्वत: प्रमाण क्यों नहीं स्वीकार करते।

उत्तर- मन्त्रभाग मूल है और ब्राह्मणग्रन्थ उनकी व्याख्याएँ हैं। अत: मन्त्रभाग ब्राह्मणग्रन्थों के अनुकूल या प्रतिकूल हो, तथापि सर्वथा माननीय होने के कारण स्वत: प्रमाण है और ब्राह्मणग्रन्थ वेदों की व्याख्या होने के कारण मूलार्थ से विरूद्ध हो तो अप्रमाणिक और अनुकूल हो तो प्रामाणिक होते हैं, अत: वे परत: प्रमाण हैं। क्या कोई इससे विपरीत अर्थात् व्याख्या के अनुकूल होने से मूल का प्रमाण और प्रतिकूल होने से अप्रमाण

This document is created by GIRDAC PDF Creator Pro trial version
GIRDAC PDF Creator Pro full version does not add this green footer
Full version can be ordered from http://www.girdac.com/Products/Buy.htm

स्वीकार कर सकता है।

प्रश्न- यह कैसे पता लगे कि ब्राह्मणग्रन्थ वेदों के व्याख्याग्रन्थ हैं?

उत्तर- क्योंकि ब्राह्मणग्रन्थों में सर्वथा संहिताओं के मन्त्रों की प्रतीकें धर-धर के पद, वाक्य और प्रकरणानुसार व्याख्या की है। जैसे तैत्तिरीय शाखा में 'इषे त्वोर्जे त्वेति' प्रतीक धर के व्याख्या की है। किन्तु वेद संहिताओं में किसी ग्रन्थ की प्रतीक नहीं रखी है। इसलिए मन्त्रभाग मूलवेद व्याख्येय और ब्राह्मणग्रन्थ उनकी व्याख्या हैं। परमेश्वर-प्रोक्त होने से वेद-मूल-वृक्ष और आश्वलायनादि सब शाखाएँ ऋषि-मुनि कृत है।

प्रश्न- जैसे आप- '**ब्राह्मणानीतिहासान् पुराणानि कल्पान् गाथानाराशंसीत्यादि०** इत्यादि (तैत्तिरीया० २।९) वचनों से शतपथादि ब्राह्मण ग्रन्थों के इतिहास पुराणादि नाम मानते हैं, वैसे ही श्रीमद्भागवतादि के नाम क्यों नहीं मानते?

उत्तर- भागवतादि ग्रन्थों के ग्रहण में कोई प्रमाण नहीं मिलता। और इन ग्रन्थों में मतों के परस्पर विरोध और लड़ाई आदि की असंभव मिथ्या कथा अपने-अपने मत के अनुसार लोगों ने लिख रखी है। अतः इतिहास पुराणादि नामों से भागवतादि ग्रन्थों का ग्रहण कदापि नहीं हो सकता। प्राचीन ऋषि-मुनियों ने ब्राह्मणग्रन्थों को वेद नहीं माना है। इसमे निम्नलिखित प्रमाण हैं-

(१) महर्षि पतञ्जलि ने व्याकरण महाभाष्य में शब्दों के दो भेद माने हैं-वैदिक और लौकिक। वैदिक शब्दों के उदाहरण देते हुए वहाँ लिखा है-

''वैदिका खल्वपि-शन्नो देवीरभिष्टये। इषे त्वोर्जे त्वा। अग्निमीडे पुरोहितम्। अग्न आयाहि वीतये इति।''

यहाँ चारों वेदों के उदाहरण दिखाएं हैं, ब्राह्मण ग्रन्थों का एक भी नहीं दिया। अतः स्पष्ट है कि वैदिक शब्दों में ब्राह्मण ग्रन्थों का ग्रहण नहीं होता।

(२) महर्षि पाणिनि ने-

छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि। (अ०४।२।६६)

द्वितीया ब्राह्मणे।। (अ०२।३।६०)

चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दासि।। (अ०२।३।६२)

इन सूत्रों में ब्राह्मण व वेद को बतलाने के लिए पृथक्-पृथक छन्द तथा ब्राह्मण शब्दों का ग्रहण किया है। अन्यथा लाघवक्रम के हिमायती ऋषि एक ही शब्द से कार्य ले सकते थे। अतः पाणिनी मुनि ने वेद-ब्राह्मण को भिन्न-भिन्न मानकर ही ऐसा सूत्रविन्यास किया है।

(३) महर्षि जैमिनी ने पूर्वमीमांसा में-

तच्चोदकेषु मन्त्राख्या।। (अ०२। पा०१।सू०३२)

शेष ब्राह्मणशब्दः।। (अ०२।पा०१।सू०३३)

मन्त्र और ब्राह्मण को भिन्न-भिन्न माना है। अर्थात् अग्निहोत्रादि के विधायक वेद-वाक्यों का नाममात्र मन्त्र है, और मन्त्रों के व्याख्यारूप शेष को ब्राह्मण कहते हैं। जो पदार्थ जिसके उपकारार्थ होता है वह उसका शेष कहलाता है। जैसे स्वामी के लिए सेवक आदि है। व्याख्यान भी व्याख्येय का शेष होता है। और ब्राह्मणग्रन्थों को वेद न मानते हुए आगे और भी स्पष्ट कर दिया है-

अनाम्नातेष्वमन्त्रत्वमाम्नातेषु हि विभागः।

(अ०२।१।३४)

अर्थात् ईश्वरप्रोक्त न होने से ब्राह्मण ग्रन्थों में वेदत्व नहीं है। और ईश्वर प्रोक्त मन्त्रों को ही वेद कहा जाता है।

(४) न्यायदर्शन के भाष्यकार महर्षि वात्स्यायन ने-

वाक्यविभागस्य चार्थग्रहणात्।। (न्याय०२।२।६६)

सूत्र के साथ में ब्राह्मणग्रन्थों के शब्दों को लौकिक ही माना है।

(५) महर्षि पाणिनी मुनि ने '**दृष्टं साम**' (अ०४।२।७) तथा **पुराणप्रोक्तेषु 'ब्राह्मणकल्पेषु'** (अ०४।३।१०५) सूत्रों में वेदों को दृष्ट तथा ब्राह्मण ग्रन्थों को ऋषि प्रोक्त कहा है।

(६) ब्राह्मणग्रन्थों की अन्तः साक्षी से भी स्पष्ट होता है कि ब्राह्मण वेदों से भिन्न हैं-**एवमिमे सर्वे वेदा निर्मिताः सकल्पाः सरहस्याः सब्राह्मणाः।**

This document is created by GIRDAC PDF Creator Pro trial version
GIRDAC PDF Creator Pro full version does not add this green footer
Full version can be ordered from http://www.girdac.com/Products/Buy.htm

(गोपथ० पू० १।१०)

यहाँ वेदों से भिन्न ब्राह्मणग्रन्थों की-गणना की है।

(७) महर्षि पतञ्जलि ने लिखा है-

'चत्वारो वेदाः साङ्गा सरहस्याः।। (महा०१।१।१)

यहाँ वेदों को चार कहकर और रहस्य-उपनिषद् से भिन्न कहकर स्पष्ट ही ब्राह्मणों को वेद नहीं माना। उपनिषद् ब्राह्मणों के ही भाग हैं।

(८) निरुक्त शास्त्र में-

इत्यपि निगमो भवति।।

इति ब्राह्मणम्।।

इत्यादि वचनों से वेद और ब्राह्मणों को भिन्न-भिन्न माना है।

(९) ब्राह्मण शब्द का अर्थ है -

ब्रह्मभिः (चतुर्वेदविद्भिर्ब्राह्मणैर्महर्षिभिः) प्रोक्तानि ब्राह्मणानि।

अर्थात् ब्रह्मादि-महर्षि प्रोक्त होने से इन ग्रन्थों को ब्राह्मण कहते हैं।

(१०) ब्राह्मणग्रन्थों में अनित्य व्यक्तियों का इतिहास वर्णन है। जैसे-

(क) शत० १४।९।३। में उद्दालक आरूणि और उसके शिष्य वाजसनेय याज्ञवल्क्य का वर्णन है।

(ख) शत०१०।६।१।१। में कैकेय और अश्वपति राजा का वर्णन।

(ग) शत० ११।६।२।१ में विदेह के राजा जनक का श्वेतकेतु आदि ब्राह्मण के साथ जाने का वर्णन है।

(घ) शतपथब्राह्मण में याज्ञवल्क्य, जनक, गार्गी मैत्रेयी आदि की कथाओं का वर्णन है।

उपर्युक्त प्रमाणों से वेद व ब्राह्मणों का बहुत ही पृथक्त्व सिद्ध हो जाता है। अतः सायणाचार्य का यह कथन-

मन्त्रब्राह्मणात्मकत्वं तावददुष्टं लक्षणम्।

मन्त्रब्राह्मणात्मको हि वेदः।।

सर्वथा मिथ्या ही है। और उसके वचनों के भी विपरीत है-

(क) **यद्यपि मन्त्रब्राह्मणात्मको वेदस्तथापि ब्राह्मणस्य मन्त्रव्याख्यारूपत्वान्मन्त्रा एवादौ समाम्राताः।।** (तैत्तिरीयसं भा०पृ० ७)

(ख) तत्र शतपथब्राह्मणस्य मन्त्रव्याख्यानरूपत्वाद्०।।

काण्वसंहिता भा०पृ०८)

यहाँ सायणाचार्य ने ब्राह्मणग्रन्थों को भी स्वयं वेद-मन्त्रों की व्याख्या बताया है।

वेद ही ईश्वरकृत हैं अन्य ग्रन्थ नहीं

प्रश्न- वेद ईश्वरकृत हैं अन्यकृत नहीं, इसमें क्या प्रमाण है?

उत्तर- ईश्वरकृत पुस्तक में निम्नलिखित विशेषताएँ होनी चाहिए-

(क)जैसा ईश्वर पवित्र, सर्वविद्यावित्, शुद्ध गुण, कर्म, स्वभाव, न्यायकारी, दयालु आदि गुणवाला है, वैसे जिस पुस्तक में ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव के अनुकूल कथन हो, वह ईश्वरकृत अन्य नहीं।

(ख) जिसमें, सृष्टिक्रम प्रत्यक्षादि प्रमाण, आप्तों के और पवित्रात्मा के व्यवहार से विरूद्ध कथन न हो, ईश्वरोक्त है।

(ग) जैसा ईश्वर का निर्भ्रम ज्ञान है वैसा जिस पुस्तक में भ्रान्ति-रहित ज्ञान का प्रतिपादन है, वह ईश्वरोक्त है।

(घ) जैसा परमेश्वर है और जैसा सृष्टिक्रम रखा है। वैसा ही ईश्वर, सृष्टि कार्य, कारण और जीव का प्रतिपादन जिसमें होवे, वह परमेश्वरोक्त पुस्तक होता है। और जो प्रत्यक्षादि प्रमाणविषयों से अविरूद्ध, शुद्धात्मा के स्वभाव से विरूद्ध न हो, इस प्रकार के वेद हैं, अन्य बाईबल, कुरानादि नहीं।

प्रश्न- वेद की ईश्वर से होने की क्या आवश्यकता है? क्रमशः ज्ञान-वृद्धि होते-होते मनुष्य वेद-पुस्तक भी बना लेते।

उत्तर- शिक्षा के बिना पुस्तक नहीं बना सकते क्योंकि बिना कारण के कार्योत्पत्ति का होना असम्भव है। जैसे जंगली मनुष्य सृष्टि को देखकर भी विद्वान्

This document is created by GIRDAC PDF Creator Pro trial version
GIRDAC PDF Creator Pro full version does not add this green footer
Full version can be ordered from http://www.girdac.com/Products/Buy.htm

नहीं होते। और शिक्षा देने से विद्वान हो जाते हैं। यदि परमात्मा आदि सृष्टि में ऋषियों को वेद की विद्या न देता और वे ऋषि दूसरे को न पढ़ाते तो कोई भी विद्वान् नहीं हो सकता। जैसे किसी बालक को पैदा होते ही एकान्त जंगल में या अविद्वानों वा पशुओं के संग में रख देवे तो वह कभी भी विद्वान नहीं हो सकता। इसलिए-

स पूर्वेषामपि गुरूः कालेनानवच्छेदात्।। योगसू०।

उस परमात्मा को शास्त्रों में पूर्वज ऋषियों का भी गुरू कहा है।

वेदों के ईश्वरोक्त होने में प्रमाण

(१) तस्मात् यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात यजुस्तस्मादजायत।।

(यजु०३१।७)

अर्थात् उसी परब्रह्म, से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और (छन्दांसि) अथर्ववेद, चारों वेद उत्पन्न हुए।

(२) यस्मात् ऋचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्।
सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखम्।।
स्कम्भं त ब्रूहि कतमः स्विदेव सः।।

(अथर्व० १०।२३।४।२०)

अर्थात् जो सर्वशक्तिमान् परमेश्वर है, उसी से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद ये चारों वेद उत्पन्न हुए।

(३) एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः, सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इत्यादि।।

(शत० का० १४, अ० ५)

महाविद्वान् महर्षि याज्ञवल्क्य अपनी स्त्री मैत्रेयी को उपदेश करते हैं कि हे मैत्रेयि सर्वव्यापक परमेश्वर से ही ऋक्, यजुः, साम और अथर्व, ये चारों वेद उत्पन्न हुए

(४) तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्।। (वैशे०१।३)

अर्थात् वेद ईश्वरोक्त हैं। इनमें सत्यविद्या और पक्षपातरहित धर्मका ही प्रतिपादन है।

(५) स एष पूर्वेषामपि गुरूः कालेनानवच्छेदात्।।

(योग० १।२६)

अर्थात् परमात्मा प्राचीन अग्नि, वायु आदि ऋषियों का भी गुरू है। क्योंकि वेद के द्वारा सत्य अर्थों का उपदेश करने से परमेश्वर का नाम गुरू है।

(६) शास्त्रयोनित्वात्।। (वेदान्त० १।१।३)

ऋग्वेदादि चारों वेद अनेक विद्याओं से युक्त हैं और सूर्य के समान सब सत्य अर्थों के प्रकाश करने वाले हैं। उनका बनाने वाला सर्वज्ञादि गुणों से युक्त परब्रह्म है।

प्रश्न- वेदों के चार विभाग क्यों किए हैं?

उत्तर- वेदों के चार विभाग भिन्न-भिन्न विद्या जानने के लिए किए गए हैं। ऋग्वेद में सब पदार्थों के गुणों का प्रकाश किया है। यजुर्वेद में क्रियाकाण्ड का विधान लिखा है। ऋग्वेद की प्रथम गणना करने का यही प्रयोजन है कि बिना ज्ञान के संस्कार और प्रवृत्ति का प्रारम्भ नहीं हो सकता। ज्ञान के पश्चात् ही कर्त्ता की प्रवृत्ति यथावत् हो सकती है। सामवेद से ज्ञान और आनन्द की उन्नति और अथर्ववेद से सर्वसंशयों की निवृत्ति होती है और गानविद्या के भेद से भी ये विभाग किए हैं। जैसे ऋग्वेद के स्वरों का उच्चारण द्रुतवृत्ति से होता है, यजुर्वेद के स्वरों का उच्चारण मध्यवृत्ति से और सामवेद के स्वरों का उच्चारण या गान विलम्बितवृत्ति किया जाता है। और अथर्ववेद के स्वरों का उच्चारण तीनों वृत्तियों के मिलाने से होता है। इसलिए वेदों के चार भेद किए हैं।

प्रश्न- प्रथम ऋग्, दूसरा यजुः०, तीसरा साम और चौथा अथर्ववेद इस क्रम से चार वेद क्यों गिने हैं।

उत्तर- जब तक गुण और गुणी का ज्ञान मनुष्य को न हो, तब तक उनमें प्रीति से प्रवृत्ति नहीं हो सकती। इस गुण-ज्ञान विद्या को जानने के लिए प्रथम ऋग्वेद की गणना की है। पदार्थों के गुण-ज्ञान के अनन्तर क्रिया-रूप उपकार करके जगत् का हित सिद्ध हो सके। इस विद्या को जानने के लिए यजुर्वेद की गणना दूसरे स्थान पर की है। ऐसे ज्ञान-कर्म और उपासना काण्ड की वृद्धि व फल कितना और कहाँ तक होना चाहिए,

This document is created by GIRDAC PDF Creator Pro trial version
GIRDAC PDF Creator Pro full version does not add this green footer
Full version can be ordered from http://www.girdac.com/Products/Buy.htm

इसका विधान सामवेद में लिखाा है। अतः इस को तीसरे स्थान पर गिना है। ऐसे तीनों वेदों में जो-जो विद्याएँ हैं, उन सब के शेष भाग की पूर्ति विधान, सब विद्याओं की रक्षा, और सशंय निवृत्ति के लिए अथर्ववेद को चतुर्थ स्थान पर गिना जाता है।

अर्थात् ज्ञानकाण्ड के लिए ऋग्वेद, क्रियाकाण्ड के लिए यजुर्वेद, इनकी उन्नति के लिए सामवेद और शेष अन्य शिक्षाओं के प्रकाश करने के लिए अथर्ववेद की क्रमशः प्रथम, द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ स्थान पर गणना की गई है।

अग्नि आदि ऋषियों को वेदार्थ किसने बताया?

सृष्टि के प्रारम्भ में अग्नि ऋषियों को वेदार्थ कैसे समझ में आया? क्योंकि बिना गुरू के कोई बात सीखी नहीं जा सकती। इस विषय में महर्षि दयानन्द लिखते हैं-

(१) ''**प्रश्न**- वेद संस्कृत भाषा में प्रकाशित हुए और वे अग्नि ऋषि लोग उस संस्कृत भाषा को नहीं जानते थे, फिर वेदों का अर्थ उन्होंने कैसे जाना?

उत्तर- परमेश्वर ने जनाया और धर्मात्मा योगी महर्षि लोग जब-जब जिस-जिस (मन्त्र) के अर्थ जानने की इच्छा करके ध्यानावस्थित हो परमेश्वर के स्वरूप में समाधिस्थ हुए, तब-तब परमात्मा ने अभीष्ट मन्त्रों के अर्थ जनाए। जब बहुतों के आत्माओं में वेदार्थप्रकाश हुआ, तब ऋषि मुनियों ने वह अर्थ और ऋषि-मुनियों के इतिहास पूर्वक ग्रन्थ बनाए।'' (स.प्र.सप्तम् समु.)

(२) स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।। (यजु० ४०।८)

जो स्वयम्भू कभी उत्पन्न नहीं होता और उसका कारण भी कोई नहीं, किन्तु वही सब का कारण अनादि और अनन्त है और अपने ही सत्य सामर्थ्य से सदा वर्तमान रहता है....उसने सृष्टि के आदि में अपनी प्रजा को, जो कि उसके सामर्थ्य में सदा से वर्तमान है, उसके सब सुखों के लिए (व्यदधात्) अर्थात् सत्य अर्थो का उपदेश किया है। (ऋ०भू० वेदनित्यत्वविचारः)

देवता-विचार

देवता मन्त्रों का प्रतिपाद्य विषय होता है। यौगिक-प्रक्रिया से पदों के विभिन्न अर्थ होते हुए भी प्रकरणनुसार उनका अर्थ निश्चित हो जाता है। अतः वेदभाष्यकार को मन्त्रार्थ करने से पूर्व प्रकरण को बताने वाले देवता का स्पष्टीकरण अवश्य करना चाहिए। शौनकीय 'बृहद्वेता' में देवता का महत्त्व बताते हुए लिखा है-

वेदितव्यं दैवतं हि मन्त्रे मन्त्रे प्रयन्ततः।
दैवतज्ञे हि मन्त्राणां तदर्थमवगच्छति।। (अ०१।२)

अर्थात् प्रत्येक मन्त्र में देवता का ज्ञान परमावश्यक है। क्योंकि देवता को जानने वाला ही मन्त्रों के अर्थो को जान सकता है। महर्षि यास्क लिखते हैं-

(क) अथातो दैवतं तद यानि नामानि प्रधान्यस्तुतीनां देवतानां तद्दैवतमित्याचक्षते। सैषा देवतोपपरीक्षा। (निरु० ७।१)

महर्षि दयानन्द इसकी व्याख्या करते हुए लिखते हैं-''दैवत उनको कहते हैं कि जिनके गुणों का कथन किया जाय अर्थात् जो-जो संज्ञा जिन-जिन मन्त्रों में जिस-जिस अर्थ की होती है, उन-उन मन्त्रों का नाम वही देवता होता है। जैसे (अग्नि दूतम्०) इस मन्त्र में 'अग्नि' शब्द चिह्न है, यहाँ इसी मन्त्र का अग्नि देवता जानना चाहिए। ऐसे ही जहाँ-जहाँ मन्त्रों में जिस-जिस शब्द का लेख है, वहाँ-वहाँ उस-उस मन्त्र को ही देवता समझना होता है। इसी प्रकार सर्वत्र समझ लेना चाहिए। सो देवता शब्द से जिस-जिस गुण से जो-जो अर्थ लिये जाते हैं, सो-सो निरुक्त और ब्रह्मणादि ग्रन्थों में अच्छी प्रकार लिखा है। इसमें यह कारण है कि ईश्वर ने जिस-जिस अर्थ को जिस-जिस नाम से वेदों में उपदेश किया है, उस-उस नाम वाले मन्त्रों से उन्हीं अर्थो को

This document is created by GIRDAC PDF Creator Pro trial version
GIRDAC PDF Creator Pro full version does not add this green footer
Full version can be ordered from http://www.girdac.com/Products/Buy.htm

जानना होता है।'' (ऋ० भू० वेदविषय०)

(ख) यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति।। (निरु०७।१)

इसकी व्याख्या करते हुए महर्षि लिखते हैं-

''ऋषिरीश्वरः। सर्वदृग् यत्कामो यं कामयमान इममर्थमुपदिशेयमिति य यत्कामः। यस्यां देवतायामार्थपत्यमर्थस्य स्वामित्वमुपदेष्टुमिच्छन् सन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तदर्थगुणकीर्त्तनं प्रयुक्तवान् अस्ति स एव मन्त्रस्तद्देवतो भवति। किं च यदेवार्थप्रतीतिकरणं दैवतं प्रकाश्यं येन भवति स मन्त्रो देवताशब्दवाच्योऽस्तीति विज्ञायते।''

''ईश्वर ने जिस-जिस अर्थ को जिस-जिस नाम से वेदों में उपेदश किया है, उस-उस नाम वाले मन्त्रों से उन्हीं अर्थो को जानना होता है।''

(ऋ०भू० वेदविषयविचारः)

(ग) ''यस्य यस्य मन्त्रस्य योऽर्थोऽस्ति स सोऽर्थस्तस्य देवताशब्देनाभिप्रायार्थविज्ञापनार्थं प्रकाश्यते। एतदर्थं देवताशब्दलेखनं कृतम्।'' (ऋ०भू० प्रश्नोत्तरविषयः)

''जिन-जिन मन्त्रों में जिन-जिन पदार्थो की प्रधानता से स्तुति की है, उनके मन्त्रमय देवता जानने चाहिए अर्थात् जिस-जिस मन्त्र का जो-जो अर्थ होता है, वही उसका देवता कहाता है, सो यह इसलिए है कि जिससे मन्त्रों को देखके उनके अभिप्रायार्थ का यथार्थ ज्ञान हो जाए। इत्यादि प्रयोजन के लिए देवता शब्द मन्त्र के साथ में लिखा जाता है।''

(ऋ०भू० प्रश्नोत्तरविषयः)

(घ) तद् येऽनादिष्टदेवतामन्त्रास्तेषु देवतोपपरीक्षा यद्देवतः स यज्ञो व यज्ञाङ्गं वा तद्देवता भवन्त्यन्यत्र यज्ञात्प्राजापत्या इति याज्ञिकाः। नाराशंसा इति नैरुक्ताः। अपि वा सा कामदेवता स्यात् प्रायो देवता वास्ति ह्याचारो बहुलं लोके देवदेवत्यमतिथिदेवत्यं पितृदेवत्यं याज्ञदैवतो मन्त्र इति। (निरु० ७।४)

इसकी व्याख्या महर्षि दयानन्द ने इस प्रकार की है-

''जिन-जिन मन्त्रों में सामान्य अर्थात् जहाँ-जहाँ किसी विशेष अर्थ का नाम प्रसिद्ध नहीं दिख पड़ता, वहाँ-वहाँ यज्ञ आदि को देवता जानना होता है।''

''तथा जिन मन्त्रों से यह यज्ञ सिद्ध होता है, वे भी उन यज्ञों के देवता हैं और जो इनमें भिन्न मन्त्र हैं, उनका प्राजापत्य अर्थात् परमेश्वर देवता है तथा जो मन्त्र मनुष्यों के अर्थ का प्रतिपादन करते हैं, उनके मनुष्य देवता हैं। इसमें बहुत प्रकार के विकल्प हैं कि कहीं पूर्वोक्त देवता कहाते हैं, कहीं यज्ञादि कर्म, कहीं माता, कहीं पिता, कहीं विद्वान्, कहीं अतिथि और कहीं आचार्यदेव कहाते हैं। परन्तु इसमें इतना भेद है कि यज्ञ में मन्त्र और परमेश्वर को ही देव मानते हैं।''

(ऋ०भू०वेदविषय विचारः)

(ङ) इतीमा देवता अनुक्रान्ताः। सूक्तभाजो हविर्भाजः। ऋग्भाजश्च भूयिष्ठाः। काश्चिन्निपातभाजः।

(निरु० ७।१३)

अर्थात् इस प्रकार यहाँ देवताओं का वर्णन किया गया। कुछ देवता सूक्तभाक् अर्थात् एक या अनेक सूक्तों में विषय का प्रतिपादन करते हैं। कुछ देवता हविर्भाक् होते हैं, सूक्तभाक् नहीं। कुछ देवता ऋग्भाक् अर्थात् एक या अनेक ऋचाओं में विषय का प्रतिपादन करते हैं। कुछ देवता ऐसे भी हैं, जो दूसरे देवों के साथ मिलकर विषय को बताते हैं।

इन उपर्युक्त प्रमाणों से सुस्पष्ट होता है कि देवता मन्त्र का प्रतिपाद्य विषय होता है। मन्त्रार्थ में उसकी उपेक्षा करने से मन्त्रार्थ प्रकरण-विरूद्ध हो जायेगा। यास्काचार्य ने निरुक्त में इसी दोष को दूर करने के लिए लिखा है-

न तु पृथक्त्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्याः प्रकरणश एवं तु निर्वक्तव्याः। (निरु० १३।१२)

This document is created by GIRDAC PDF Creator Pro trial version
GIRDAC PDF Creator Pro full version does not add this green footer
Full version can be ordered from http://www.girdac.com/Products/Buy.htm

अर्थात् मन्त्रों का व्याख्यान प्रकरण से पृथक करके नहीं करना चाहिए। किन्तु प्रकरण को समझ कर मन्त्रों का व्याख्यान करना चाहिए।

महर्षि दयानन्द ने इसकी व्याख्या में लिखा है-

''नैते श्रुतितः श्रवणमात्रैणैव तर्कमात्रेण च पृथक्-पृथक् मन्त्रार्थ निर्वक्तव्याः। किन्तु प्रकरणानुकूलतया पूर्वापरसम्बन्धेनैव नितरां वक्तव्याः।'' (ऋ०भू० वेदविषय०)

अर्थात् मन्त्रार्थ की व्याख्या श्रवण मात्र से या तर्कमात्र ये ही नहीं करनी चाहिए। किन्तु प्रकरण के अनुसार पूर्वापर सम्बन्ध को ध्यान में रखकर मन्त्रस्थ पदों की व्याख्या करनी चाहिए।

महर्षि दयानन्द ने अपने वेद-भाष्य में सर्वत्र इस शैली का विशेष ध्यान रखा है। मन्त्रों के प्रारम्भ में सर्वत्र मन्त्रार्थभूमिका में प्रथम प्रकरण का ही स्पष्टीकरण किया है। परन्तु मध्यकालीन सायण, महीधरादि, भाष्यकारों ने प्रकरण को बताने वाले देवता की उपेक्षा ही नहीं की है, किन्तु देवता के अर्थ को न खोलकर मिथ्यार्थों का ही प्रतिपादन कर गए है। और स्थान-स्थान पर अनित्य इतिहास दिखाने का भी दु:साहस कर गए हैं। हमारा यह दृढ़तम विचार है कि देवता के अर्थ को स्पष्ट करके यदि मन्त्रार्थ किया जाए और मिथ्या कल्पनाओं का आश्रय न लिए जाए, तो मन्त्रार्थ शुद्ध किया जा सकता है, अन्यथा नहीं। महर्षि ने बहुत ही गम्भीराध्ययन तथा सूक्ष्मता ने इन दोषों को परखकर लिखा है-

''जो सायणाचार्य और महीधरादि अल्पबुद्धि लोगों को झूठे व्याख्यानों को देख के आजकल के आर्यावर्त और यूरोप देश के निवासी लोग जो वेदों के ऊपर अपनी अपनी देशभाषाओं में व्याख्यान करते हैं,वे ठीक नहीं है। और उन अनर्थयुक्त व्याख्यानों के मानने से मनुष्यों को अत्यन्त दु:ख प्राप्त होता है। इससे बुद्धिमानों को उन व्याख्यानों का प्रमाण करना योग्य नहीं।'' (ऋ०भू० वेदविषयविचार)

''जो रावण, उव्वट, सायण और महीधर आदि के बनाये हैं, वे सब मूलमन्त्र और ऋषिकृत व्याख्यानों से विरूद्ध हैं। मैं वैसा भाष्य नहीं बनाता। क्योंकि उन्होंने वेदों की सत्यार्थता और अपूर्वता कुछ भी नहीं जानी।''

(ऋ०भू० भाष्यकरणशङ्क०)

आधुनिक भाष्यकारों की भ्रान्ति

अनेक आर्य विद्वानों के भाष्य देखने से यह स्पष्ट हुआ कि ये प्राय: सभी भाष्य महर्षि की शैली के अनुरूप नहीं है। महर्षि सर्वप्रथम मन्त्रार्थ-भूमिका लिखकर मन्त्र के प्रकरण को स्पष्ट करते हैं। किन्तु इस शैली का उल्लेख किसी अन्य विद्वान् के भाष्य में नहीं मिलता। महर्षि ने निरुक्तादि शास्त्रों से इस शैली को अपनाया है। निरुक्त में लिखा है-

न पृथक्त्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्याः प्रकरणश एव तु निर्वक्तव्याः।। (निरु०१३।१२)

अर्थात् वेदों के शब्दों का पूर्वा पर प्रकरण का ज्ञान करके उसको मन्त्रार्थ भूमिका के रूप में सर्वप्रथम खोलना चाहिए। उससे मन्त्र के प्रतिपाद्य विषय देवता का अर्थ स्पष्ट हो जाता है और मन्त्रार्थ की एकरूपता बनी रहती है। आर्य-विद्वान् महर्षि-शैली का नाम तो लेते हैं, किन्तु उसको अपनाते नहीं है। उनके वेदभाष्यों में इस शैली को छोड़ने से विभिन्न दोष उत्पन्न होते जा रहे हैं।

आधुनिक भाष्यकार मन्त्र के केवल एक या दो पदों को पकड़कर व्याख्या करते हैं। मन्त्र में जो आख्यातपद प्रधान होता है, उसका ध्यान ही नहीं रखते। महर्षि ने आख्यात पद को सर्वत्र प्रधानता दी है और जितने मन्त्र में आख्यात पद हैं, उतने ही अन्वय में वाक्य बनाये हैं। क्योंकि वाक्य बनता ही आख्यात पद से है। क्रिया के बिना वाक्य नहीं बन सकता। और पूर्ण वाक्य के बिना मन्त्रार्थ कैसे स्पष्ट हो सकता है। इस

This document is created by GIRDAC PDF Creator Pro trial version
GIRDAC PDF Creator Pro full version does not add this green footer
Full version can be ordered from http://www.girdac.com/Products/Buy.htm

महर्षि की शैली तथा सप्रमाण पदार्थ, अन्वय और भावार्थ की शैली को यदि अपनाया जाए, तो वेदों में कल्पित इतिहास पक्ष का स्वत: ही खण्डन हो जाता है। आर्य विद्वानों के भाष्यों में भी यह दोष आ गया है कि समस्त मन्त्र की संगति न लगाकर एक या दो पदों को पकड़कर व्याख्या कर डालते हैं। यह आर्ष शैली नहीं है।

ऋषि विचार

वेदों में मन्त्रों के जो ऋषि लिखे हैं, वे उनके साक्षात्कर्ता हैं, अथवा उन मन्त्रों के रचयिता हैं? महर्षि दयानन्द ने जहां वेदविषयक अन्य भ्रान्तियों का निराकरण किया है, वहाँ ऋषियों के विषय में बहुत ही स्पष्ट लिखा है-

(१)''वेदानामीश्वरोक्त्यनन्तरं येन येनर्षिणा यस्य-यस्य मन्त्र यार्थो यथावद् विदितस्तस्मात् तस्य तस्योपरि तत् तदृषेर्नामोल्लेखनं कृतमस्ति।''

''ईश्वर जिस समय आदि सृष्टि में वेदों का प्रकाश कर चुका, तभी से प्राचीन ऋषि लोग वेद-मन्त्रों के अर्थो का विचार करने लगे, फिर उनमें से जिस-जिस मन्त्र का अर्थ जिस-जिस ऋषि ने प्रकाशित किया, उस-उस का नाम उसी-उसी मन्त्र के साथ स्मरण के लिए लिखा गया। इसी कारण से उनका ऋषि नाम भी हुआ है, और जो उन्होंने ईश्वर के ध्यान और अनुग्रह से बड़े प्रयत्न के साथ वेद-मन्त्रों के अर्थो को यथावत् जानकर सब मनुष्यों के लिए पूर्ण उपकार किया है, इसलिए विद्वान् लोग वेद मन्त्रों के साथ उनका स्मरण रखते हैं। (ऋ०भू० प्रश्नोत्तरविषय:)

(२) ''अर्थ को ठीक-ठीक जानके उसी के अनुसार व्यवहारों में प्रवृत्त होना वाणी का फल है। और जो लोग इस नियम पर चलते हैं, वे साक्षात् धर्मात्मा अर्थात् ऋषि कहलाते हैं।'' (ऋ०भू० प्रश्नोत्तर०)

(३) निरुक्त में लिखा है-

साक्षात्कृतधर्माणऋषयो बभूवुस्तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान्सम्प्रादु: (निरुक्त-1।20)

''जिन्होंने सब विद्याओं को यथावत् जाना था, वे ही ऋषि हुए थे, जिन्होंने अपने उपदेश के प्रचार अर्थात् अल्पबुद्धि मनुष्यों को वेद-मन्त्रों के अर्थो का प्रकाश कर दिया है।(प्रश्न) किस प्रयोजन के लिए?

उत्तर-वेदार्थ प्रचार की परम्परा स्थिर रहने के लिए तथा जो लोग वेदशास्त्रादि पढ़ने को कम समर्थ हैं, वे जिससे सुगमता से वेदार्थ जान लेवें।''

(ऋ०भू० प्रश्नोत्तरविषय:)

(४) न ह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वा।।

(निरु०१३।१२)

अर्थात् जो ऋषि व तपस्वी नहीं है, उसे वेदार्थ का प्रत्यक्ष नहीं होता।

(५) तेयत् पुरास्मात् सर्वस्मात् इदमिच्छन्त: श्रमेण तपसारिषंस्तस्माद् ऋषय:।। (शत०६।१।१।१)

अर्थात् जिन तपस्वी जीवों को तप व परिश्रम से ध्यान करते हुए वेदार्थ का ज्ञान हुआ, वे उन-उन मन्त्रोंके ऋषि कहलाए।

(६) ऋषयो मन्त्रद्रष्टार:। ऋषिर्दर्शनात् स्तोमान् ददर्शेत्यौपमन्यव:। तद् यदेनस्तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भ्वभ्यानर्षत् तदृषीणाम् ऋषित्वमिति विज्ञायते।। (निरु०२।११)

अर्थात् ऋषि वेद-मन्त्रों के अर्थ के द्रष्टा होते है। औपमन्यव आचार्य ने भी कहा है कि वेदों में प्रयुक्त स्तोम-स्तुति इत्यादि विषय मन्त्रों के वास्तविक अर्थ का साक्षात्कार करने वालों को ही ऋषि के नाम से पुकारा जाता है। तपस्या करते हुए जो इनको स्वयम्भू नित्य वेद के अर्थका भान हुआ, इसलिए ये ऋषि कहलाए। यही वेद-मन्त्रों का रहस्यसहित अर्थ दर्शन ही ऋषित्व है।

(७) महर्षि दयानन्द ने अपने अमरग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश

This document is created by GIRDAC PDF Creator Pro trial version
GIRDAC PDF Creator Pro full version does not add this green footer
Full version can be ordered from http://www.girdac.com/Products/Buy.htm

में भी लिखा है- "**ऋषयो मन्त्रदृष्टयः मन्त्रान्सम्प्रादुः।।**

जिस-जिस मन्त्रार्थ का दर्शन जिस-जिस ऋषि को हुआ और प्रथम ही जिसके पहले उस मन्त्र का अर्थ किसी ने प्रकाशित नहीं किया था, किया और दूसरों को पढ़ाया भी, इसीलिए आद्यावधि उस-उस मन्त्र के साथ ऋषि का नाम स्मरणार्थ लिखा आता है। जो कोई ऋषियों को मन्त्रकर्त्ता बतलावें, उनको मिथ्यावादी समझें। वे तो मन्त्रों के अर्थप्रकाशक हैं।" (सत्यार्थ० सप्तमसमु०)

इत्यादि महर्षि दयानन्द के लेख तथा प्राचीन शास्त्रों के प्रमाणों से स्पष्ट है कि मन्त्रों के प्रारम्भ में लिखे ऋषि ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। ये मन्त्रों के रचियता नहीं हैं।

ऋषियों को मन्त्रकर्त्ता मानने वालों को आक्षेपों को उत्तर-

उपर्युक्त मान्यता के विरूद्ध पाश्चात्य विद्वानों एवं कतिपय भारतीय विद्वानों की यह मान्यता है कि ये ऋषि ही मन्त्रों के रचियता हैं। वे अपने पक्ष में निम्न प्रमाण दिया करते हैं-

(१)शिशुर्वा आङ्गिरसो मन्त्रकृतां मन्त्रकृदासीत्।।
(ताण्डय ब्रा० १३।३।२४)

(२) नमः ऋषिभ्यो मन्त्रकृद्भ्यो मन्त्रपतिभ्यः।।
(शाङ्खायन० ७।१)

(३) कुत्स ऋषिर्भवति, कर्त्ता स्तोमानात्।।
(निरु० ३।११)

(४) यस्य वाक्यं स ऋषिः।।
(सर्वानुक्रम० २।४)

(५) संवादेष्वाह वाक्यं यः स तु तस्मिन् भवेद् ऋषिः।।
(बृहद्देवता० २।९८)

इत्यादि स्थलों पर 'मन्त्रकृत्' '**कर्त्ता स्तोमानाम्**' तथा **यस्य वाक्यम्**' इत्यादि से यह सन्देह होता है कि ऋषि मन्त्रों के रचियता थे। यथार्थ 'कृञ्' धातु के अर्थ को न समझने से ही यह सन्देह हुआ है। महर्षि पतञ्जलि लिखते हैं-

"**करोतिरयमभूतप्रादुर्भावे दृष्टः। निर्मलीकरणे चापि पृष्ठं कुरु, पादौ कुरु उन्मृदान इति गम्यते। निक्षेपणे चापि वर्त्तते-कटे कुरु, घटे कुरु, स्थापयेति गम्यते**"।।

इस प्रमाण से स्पष्ट है कि 'कृञ्' धातु का प्रयोग स्थापन अर्थ में भी होता है। जिससे स्पष्ट है कि जिस ऋषि ने मन्त्रार्थ का प्रकाश किया अथवा किसी कर्मविशेष में विनियुक्त किया, वह 'मन्त्रकृत' नाम से प्रसिद्ध हो गया। आचार्य सायण ने भी यही कहा है कि- **ऋषिरतीन्द्रियार्थद्रष्टा मन्त्रकृत करोति धातुस्तत्र दर्शनार्थः।** (ऐतरेय ब्रा० ६।१)

अर्थात् अतीन्द्रियार्थद्रष्टा को ऋषि कहते हैं। यह 'कृञ्' धातु दर्शन अर्थ में प्रयुक्त है। और यस्य वाक्यम् इत्यादि का भी यही भाव है कि यहाँ वाक्य शब्द मन्त्र अथवा सूक्त के लिए प्रयुक्त है। जिस ऋषि ने जिस मन्त्र अथवा पूरे सूक्त का दर्शन किया, वह मन्त्र व सूक्त उसके नाम से ही प्रसिद्ध हो गया।

महर्षि दयानन्द ने ऋषि मन्त्रो के रचयिता होते हैं, इस मान्यता का स्पष्ट रूप से खण्डन करते हुए लिखा है-

(क) जो कोई ऋषियों को मन्त्रकर्ता बतलावें, उनको मिथ्यावादी समझें। (सत्यार्थ० सप्तम०)

(ख) यो मन्त्रसूक्तानामृषिर्लिखितस्तेनैव तद् रचितमिति कुतो स्यात्? मैवं वादि। ब्रह्मादिभिरपि वेदानामध्ययनश्रवणयोः कृतत्वात्। यदर्षीणामुत्पत्तिरपि नासीत् तदा ब्रह्मादीनां समीपे वेदानां वर्त्तमानत्वात्।" (ऋ०भू० वेदोत्पत्ति०)

"अर्थात् मन्त्रों और सूक्तों के ऊपर जिन ऋषियों के नाम लिखे हैं, उन्होंने ही उन मन्त्रों की रचना की ऐसा क्यों न माना जाए?"

उत्तर यह कथन ठीक नहीं। ब्रह्मादि ने भी वेदों का अध्ययन और श्रवण किया था। जब ऋषियों की उत्पत्ति

This document is created by GIRDAC PDF Creator Pro trial version
GIRDAC PDF Creator Pro full version does not add this green footer
Full version can be ordered from http://www.girdac.com/Products/Buy.htm

भी न हुई थी, तब भी ब्रह्मा आदि के पास वेद विद्यमान थे।

(ग) यो वै ब्रह्माणं विदधाति पूर्व यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै०। (श्वेताताश्वतरोप० ६।१८)

जिसने ब्रह्म को उत्पन्न किया और ब्रह्मादि को सृष्टि के आदि में अग्नि आदि के द्वारा वेदों का भी उपदेश किया; उसी परमेश्वर की शरण को हम लोग प्राप्त होते हैं।

(घ) अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्मसनातनम्।
दुदोह यज्ञसिध्यर्थमृग्यजुः सामलक्षणम्।। मनु०१।।
अध्यापयामास पितृन् शिशुराङ्गिरसो कविः।। मनु०२।।

इस प्रकार ऋषियों ने भी वेदों को पढ़ा है। क्योंकि जब मरीच्यादि ऋषि और व्यासादि मुनियों का जन्म भी नहीं हुआ था, उस समय मे भी ब्रह्मादि के समीप वेद वर्तमान थे। इसमें मनु के श्लोक भी साक्षी है कि पूर्वोक्त अग्नि, वायु, रवि और अंगिरा ने ब्रह्मा जी ने वेदों को पढ़ा था। जब ब्रह्मा जी ने वेदों को पढ़ा था, तो व्यासादि और हम लोगों की कथा क्या ही कहनी है।

(ऋ०भू० वेदोत्पत्ति०)

ऋषियों को मन्त्रकर्त्ता मानने पर अनेक भ्रान्तियों की उत्पत्ति

(१) (क)-अनेक ऐसे मन्त्र हैं, जिनके अनेक ऋषि हैं। जैसे-

अग्न आयूँषि पवस आसुवोर्जमिषं च नः।
आरे बाधस्व दुच्छुनाम्।।

यह मन्त्र सामवेद में सं. ६२७, १४६४, १५१८ में आया है। इसके शतं वैखानस ऋषयः सौ ऋषि लिखे हैं। क्या २४ अक्षरों के छन्द के मन्त्र को १०० ऋषियों ने मिलकर बनाया?

ख- ऋग्वेद नवम मण्डल के १०७ वें सूक्त के (सप्तर्षयः) सात ऋषि बताए हैं। क्या इस छोटे से सूक्त को सात ऋषियों ने मिलकर बनाया था?

ग-ऋ०८मण्डल के ३४वें सूक्त के -'**एन्द्र याहि हरिभिः**' इत्यादि तीन मन्त्रों के 'सहस्त्रंख्याका ऋषयः। क्या हजारों ऋषि रचियता हो सकते हैं?

(२) वेदों में अनेक मन्त्र ऐसे हैं, जो भिन्न-भिन्न स्थानों में पठित हैं। और एक ही वेद में एक एक मन्त्र अनेक बार पठित है और उनके ऋषि भिन्न-भिन्न हैं। जैसे-

(क) ऋ० ४।४८।३ में 'चत्वारि शृङ्गा०' मन्त्र का ऋषि वामदेव है। और यजुः १७।९१ में इसी मन्त्र का ऋषि 'साध्याः' है।

(ख) ऋ० १०।१५२।१ मन्त्र का ऋषि 'शासः भारद्वाजः' है और अथर्ववेद १।२०।४ में इसी का ऋषि 'अथर्वा' है।

(ग)'चित्रं देवानामुदगाद०' मन्त्र का ऋ० १।११५।१ में 'कुत्स आङ्गिरसः' यजु० १३।४६ में 'साध्या' और प्रजापतिः ऋषि है। और अथर्व० १३।२।३५ में इसका ऋषि 'ब्रह्मा' है।

इत्यादि अनेक उदाहरण श्री पं० धर्मदेव जी विद्यामार्तण्ड ने अपनी पुस्तक 'वेदों का यथार्थ स्वरूप' में दिखाए हैं।

(घ) एक ही वेद में भिन्न-भिन्न स्थानों पर पठित एक ही मन्त्र के भिन्न-भिन्न ऋषि हैं। जैसे- आपः पृणीत भेषजम् मन्त्र का ऋ० १।२३।२१ में ऋषि मेधातिथि काण्व है। दशम मण्डल के नवम सूक्त में 'त्रिशिरास्त्वाष्ट्रः सिन्धुद्वीपों वाम्बरीषः' है।

(ङ) 'इडा सरस्वती मही०' ऋ० १।१३।९ मन्त्र का ऋषि 'मेधातिथि काण्व' है और ऋ० ५।५।८ में 'वसुश्रुत आत्रेय' ऋषि है। इत्यादि प्रमाणों से स्पष्ट होता है कि ऋषियों को मन्त्रकर्त्ता मानने पर अनेक दोषों की उत्पत्ति होती है। और द्रष्टा मानने पर कोई भी असंगति नहीं रहती। अन्यथा ऋषियों पर अनेक प्रकार के चोरी आदि के दोष भी स्वीकार करने होंगे।

This document is created by GIRDAC PDF Creator Pro trial version
GIRDAC PDF Creator Pro full version does not add this green footer
Full version can be ordered from http://www.girdac.com/Products/Buy.htm

पण्डित राजवीर शास्त्री और विशुद्ध मनुस्मृति

❑ मनमोहन आर्य......

आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, २ एफ कमला नगर, दिल्ली ने २६ दिसम्बर, सन् १८८१ तदनुसार पौष कृष्णा अमावस्या, सं. २०३८ विक्रमी को विशुद्ध मनुस्मृति का प्रकाशन किया था जिसकी २,२०० प्रतियां प्रकाशित की गई थीं। पुस्तक का मूल्य २० रूपये था तथा पुस्तक का आकार २१.५ सेमी. x १४ सेमी. के ५२९ पृष्ठ हैं। आरम्भ में ४६ पृष्ठ और हैं जिनमें पुस्तक का विवरण, ट्रस्ट के संस्थापक श्रद्धेय लाला दीपचन्द आर्य जी द्वारा लिखित ४ पृष्ठों का प्रकाशकीय लेख है। प्रकाशकीय के बाद २४ पृष्ठों में पं. राजवीर शास्त्री, सम्पादक दयानन्द सन्देश द्वारा लिखित प्राक्कथन है। यह प्राक्कथन पं. राजवीर शास्त्री जी ने २३ दिसम्बर, १९८१ को भूपेन्द्रपुरी, मोदीनगर (गाजियाबाद) में लिखा है जो कि उनका निवास स्थान रहा है। प्राक्कथन के पश्चात ६ पृष्ठीय पं. राजवीर शास्त्री द्वारा लिखित एक आलेख है जिसका शीर्षक है ''**महर्षि-दयानन्द-कृत अर्थों की विशेषता--**'' पश्चात १ पृष्ठ की मनुस्मृति-भाष्य में उद्धृत ग्रन्थों की संकेत-सूची दी गई है तथा इसके बाद १८ पृष्ठीय विशुद्ध-मनुस्मृति की विषय-सूची दी गई है। पुस्तक के अन्त में अतिरिक्त १८ पृष्ठों की **विशुद्धमनुस्मृति- लोकानुक्रमणिका** है। इस प्रकार इस ग्रन्थ में ४६+५२९+१८ = **५९३ पृष्ठ** हैं।

ग्रन्थ के कवर पृष्ठ में सर्वप्रथम ओ३म् मुद्रित है, इसके नीचे बड़े अक्षरों में **विशुद्ध-मनुस्मृति**, इसके नीचे (महर्षि-दयानन्द-व्याख्यासंवलित हिन्दीभाष्य प्रक्षिप्त लोक रहित किन्तु प्रक्षिप्त श्लोक-समीक्षा विभूषित) पंक्ति कोष्ठ में अंकित है। कवर पृष्ठ के मध्य में व्याख्याता, समीक्षक एवं सम्पादक के रूप में आचार्य पं. राजवीर शास्त्री (सम्पादक दयानन्द-सन्देश) का नाम अंकित है। इस आन्तरिक पुस्तक के कवर पृष्ठ के सबसे नीचे प्रकाशक, आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, २ एफ, कमलानगर, दिल्ली-७ मुद्रित है। पुस्तक के मुद्रक के रूप में 'आर.के. प्रिण्टर्स, ८० डी, कमलानगर, दिल्ली-७ मुद्रित है। प्रकाशकीय में **ऋषि चरणों के अनुचर श्री लाला दीपचन्द आर्य**, संस्थापक तथा प्रधान, आर्ष-सहित्य प्रचार-ट्रस्ट (दिनांक २६-१२-८१) लिखते हैं - ''**महर्षि-दयानन्द के ग्रन्थों का स्वाध्याय करते हुए महर्षि द्वारा अपने ग्रन्थों में उद्धृत मनुस्मृति के श्लोकों से ऐसी अमूल्य, अनुपम, महत्वपूर्ण तथा गम्भीर-भावों की उपलब्धि हुई, जिसके कारण मेरे हृदय-पटल पर ऐसा प्रभाव पड़ा और मुझ में उत्कट अभिलाषा उत्पन्न हुई कि इस ग्रन्थ का स्वयं भी अध्ययन करना चाहिये। मैंने इस ग्रन्थ को गुरूमुख से पढ़कर फिर स्वयं स्वाध्याय भी किया। उत्तरोत्तर मेरी श्रद्धा इस ग्रन्थ के प्रति बढ़ने लगी और दूसरे मनुष्यों को भी इस ग्रन्थ का लाभ मिल सके, इस लोक-कल्याण की भावना से इस ग्रन्थ को ट्रस्ट की ओर से प्रकाशित करने की प्रबल इच्छा हुई।**'' इसी प्रकाशकीय में आगे लालाजी ने लिखा है-''**इस आस्था से सर्वप्रथम मैंने इस कार्य के लिए श्री पं. राजवीर शास्त्री को चुना था, उन्होंने इस पर कुछ कार्य तो किया, किन्तु ट्रस्ट के अन्य कार्यों में व्यस्त रहने से यह कार्य अपूर्ण ही पड़ा रहा।** इसके पश्चात् श्री प्रो. सुरेन्द्रकुमार जी से अनुरोध किया, उन्होंने इस अनुरोध को स्वीकार किया और अनेक वर्षो तक इस ग्रन्थ पर सतत-परिश्रम करके बहुत योग्यता तथा लग्न से यह अनुसन्धानात्मक कार्य किया। प्रक्षेपों के निर्धारण के लिए मौलिक आधार निश्चित किये गये। **उन मानदण्डों पर एकरूपता से कार्य करने में जो बाधायें आयीं, उनको समय समय पर श्री राजवीर शास्त्री के साथ विचार-विमर्श करके सुलझाया गया। जिससे यह महत्वपूर्ण कार्य सम्पन्न हुआ। इस कार्य**

This document is created by GIRDAC PDF Creator Pro trial version
GIRDAC PDF Creator Pro full version does not add this green footer
Full version can be ordered from http://www.girdac.com/Products/Buy.htm

के लिए मैं दोनों विद्वानों का धन्यवाद करता हूँ।'' कुछ आगे लालाजी लिखते हैं – **''इस विशुद्ध मनुस्मृति' में श्लोक की व्याख्या के साथ साथ प्रत्येक विषय की समाप्ति पर प्रक्षिप्त श्लोकों की सारगर्भित समीक्षा करके श्री पं. राजवीर शास्त्री ने इस संस्करण की उपादेयता को और भी बढ़ा दिया है, एतदर्थ वे धन्यवाद के पात्र हैं।''**

प्राक्कथन में पं. राजवीर शास्त्री जी लिखते हैं कि -- **''पाठकें के हाथों में मनुस्मृति (विशुद्ध-मनुस्मृति) का संस्करण समर्पित करते हुए हमें हार्दिक प्रसन्नता हो रही है।''** इस प्राक्कथन के अन्त के दो पैरा भी हम उद्‌धृत कर रहे हैं। पं. राजवीर शास्त्री जी ने अपनी लेखनी से लिखा है – ''आभार-प्रदर्शन-जिस परम-पिता परमेश्वर की असीम अनुकम्पा तथा सत्प्रेरणा से यह ग्रन्थ-प्रकाशन का पवित्र कार्य निर्बाधरूप से सम्पन्न हुआ, हम उसका कोटिश: धन्यवाद करते हैं। तत्पश्चात् प्राचीन ऋषि-मुनियों का, जिन्होंने सर्वकल्याण की भावना से यह पवित्र-ज्ञान की ज्योति परमेश्वर के सान्निध्य से पवित्रान्त:करण से प्रज्वलित की, उनका गुणानुवाद स्वत: ही हृदय से प्रस्फुटित हो रहा है। और जिस ऋषि-दयानन्द ने, उस ज्ञान को चिरकालीन अज्ञान तथा भ्रान्तियों के आवरण को दूर करके पुन: प्रका ामान किया और अज्ञान-ग्रस्त संसार को सन्मार्ग दिखाया, उनके प्रति सदा श्रद्धा से नतमस्तक हुए बिना कैसे हम रह सकते हैं? और जिन आर्य-विद्वानों ने अपने सतत प्रयत्न से ऋषिवर की सत्प्रेरणा से उनकी मान्यताओं के अनुसार मनुस्मृति की प्रथम व्याख्यायें लिखी हैं, उनके प्रति हम हृदय से आभार प्रकट करते हैं। और इस ग्रन्थ के पवित्र संस्करण के प्रकाशन का मूल-मन्त्र जिस हृदय में प्रथम अंकुरित हुआ, जिन्होंने न केवल इस ग्रन्थ के प्रकाशन के समस्त व्यय की व्यवस्था की, अपितु इस कार्य में योग्य विद्वानों को नियुक्त किया और समय-समय पर अपने सत्परामर्शो से इस प्रक्षेप- निर्धारण के श्रमसाध्य कार्य को अनुप्राणित भी किया, उन ट्रस्ट के संस्थापक एवं प्रधान श्री ला. दीपचन्द जी आर्य का हम हृदय से धन्यवाद करते हैं, परमेश्वर ऐसे आर्यपुरूषों को सदा ही स्वास्थ्य तथा दीर्घजीवन प्रदान करें ***इसके साथ ही गुरूकुल झज्जर के योग्य स्नातक, जिनके सुशीलतादि स्वभावों से मैं विद्यार्थीकाल से ही सुपरिचित हूं, जिन्होंने इस ग्रन्थ के प्रक्षेप-निर्धारण में अत्यधिक श्रम किया है, और प्रक्षेप छांटने के प्रमुख आधारों का चयन करके इस जटिल कार्य को सरल बनाया है, उन प्रो. सुरेन्द्रकुमार जी का मैं अत्यन्त आभारी हूं। परमेश्वर उन्हें भविष्य में भी इसी प्रकार के कार्यों में सत्प्रेरणा देते रहें।*** इसके अतिरिक्त इसके प्रकाशन कार्य में परम-सहयोगी श्री कर्मवीर जी शर्मा, श्री रामहौसला जी मिश्र और उनके समस्त सहयोगी धन्यवाद के पात्र हैं, जिन्होंने श्रद्धा से सतत प्रयास करके इसका शुद्ध प्रकाशन किया है। **इसके साथ ही मुझे पारिवारिक कार्यों से सर्वथा निश्चिन्त रखकर इस कार्य में जिस जीवनसंगिनी धर्मपत्नी श्री मती पुष्पलता ने परम-सहयोग दिया है, उनके प्रति भी आभार प्रकट करता हूं।**

साथ ही इस ग्रन्थ के पाठकों तथा विद्वज्जनों से भी विनम्र प्रार्थना करता हूं कि हमने (श्री राजवीर शास्त्री एवं प्रो. श्री सुरेन्द्र कुमार) बहुत ही पवित्रभाव से तथा जन-हित-कामना से इस धर्मशास्त्र के प्रक्षेपों का पृथक्करण करके **'विशुद्ध-संस्करण'** का प्रकाशन किया है। पुनरपि हम अल्पज्ञ तथा अल्पसामर्थ्य वाले ही हैं, हमसे त्रुटि का होना सम्भव है। यदि स्वाध्यायशील, विद्वद्‌गण तथा अनुसंधानरत व्यक्ति इसमें कहीं भी किसी प्रकार की त्रुटि अनुभव करें, तो वे नि:संकोचभाव से हमें लिखें और उसका कारण भी अवश्य स्पष्ट करें जिससे उस त्रुटि का संशोधन अगले संस्करण में किया जा सके। आशा है गुणग्राही पाठकगण हमारे दोषों को क्षमा करते हुए सद्‌गुणों का ही प्रकाशन एवं संवर्धन सदा किया करेंगे क्योंकि इस विषय में सज्जनों के स्वभाव के विषय में बहुत ही सुन्दर कहा गया है-

This document is created by GIRDAC PDF Creator Pro trial version
GIRDAC PDF Creator Pro full version does not add this green footer
Full version can be ordered from http://www.girdac.com/Products/Buy.htm

गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः।।''

महर्षि दयानन्द कृत अर्थों की विशेषता शीर्षक अध्याय के ६ पृष्ठों में १७ विशेषतायें दर्शायीं गईं हैं। समाप्ति पर भी कोष्ठ में श्री राजवीर शास्त्री जी का नाम दिया गया है।

हम यह भी अवगत कराना चाहते हैं कि ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित मनुस्मृति के वृहत्त संस्करण में भाष्यकार, अनुसंधानकर्ता तथा कमेन्टेटर के रूप में डा. सुरेन्द्र कुमार जी का नाम अंकित है और उनके साथ ही सम्पादक के रूप में श्री राजवीर शास्त्री (एम.ए.) का नाम अंकित है। यह विवरण हमें कुछ त्रुटिपूर्ण प्रतीत होता है।

आजकल विशुद्ध मनुस्मृति के जो संस्करण प्रकाशित हो रहे हैं उनमें पं. राजवीर शास्त्री को प्रथम संस्करण में घोषित इसके व्याख्याता, समीक्षक एवं सम्पादक का स्थान बदल कर उन्हें मात्र सम्पादक लिखा जा रहा है और प्रो. डा. सुरेन्द्र कुमार को भाष्यकार, अनुसंधानकर्त्ता और कोमेन्टेटर लिखा जा रहा है जिससे आर्य जगत में भ्रम की स्थिति बनी है। यदि ऐसा है तो प्रथम संस्करण में ऐसा क्यों नहीं था, यह समझ में नहीं आता। प्रथम संस्करण के प्रकाशकीय एवं पं. राजवीर शास्त्री जी के प्राक्कथन से स्थिति स्पष्ट होती है। उनका योगदान मात्र एक सम्पादक के रूप में न होकर इससे कुछ अधिक प्रतीत होता है जिसको किन्हीं कारणों से छोड़ा गया है। हमें लगता है कि इस ग्रन्थ का **श्रेय ईश्वरभक्त, वेदभक्त तथा ऋषिभक्त श्रद्धेय लाला दीपचन्द आर्य जी, वेदज्ञ व शास्त्रज्ञ पं. राजवीर शास्त्री जी तथा गवेषक डा. प्रो. श्री सुरेन्द्र कुमार जी** को समान रूप से है।

१९६ चुक्खूवाला-२,देहरादून-२४८००१
फोनः ०९४१२९८५१२१

निमन्त्रण-पत्र

आप सभी को यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता होगी कि आर्यों का तीर्थस्थल ११९ गुरुकुल गौतमनगर नई दिल्ली-४९ का ८१ वॉ वार्षिकोत्सव एवं ३५ वॉ चतुर्वेद ब्रह्मपारायण महायज्ञ **७ दिसम्बर रविवार** से **२८ दिसम्बर रविवार २०१४** तक पूर्व वर्षो की भॉति विभिन्न भव्य सम्मेलनों के साथ सम्पन्न होगा। चतुर्वेद ब्रह्मपारायण महायज्ञ के ब्रह्मा वेदों के प्रकाण्ड पण्डित आचार्य **डॉ. रघुवीर वेदालंकार जी** होंगे । महायज्ञ में आर्य जगत् के उच्चकोटि के विद्वान्, सन्यासी भजनोपदेशक पधाार रहे हैं। इस अवसर पर आप स्वयं यजमान बनकर दूसरों को प्रेरित कर पुण्य के भागी बनें तथा यज्ञ में दान देकर गुरुकुल की सहायता कर कृतार्थ करें। आपके द्वारा दिया गया पवित्र दान ८० जी के अन्तर्गत आयकर मुक्त है।

आप सभी अपने इष्ट मित्रों एवं परिवार वालों के साथ पधार कर धर्म लाभ प्राप्त करें।

निवेदक **: स्वामी प्रणवानन्द सरस्वती**

सम्पर्क सूत्र :- ०९८६८८५५१५५, ०९८१०४२०३७३

This document is created by GIRDAC PDF Creator Pro trial version
GIRDAC PDF Creator Pro full version does not add this green footer
Full version can be ordered from http://www.girdac.com/Products/Buy.htm

सुभाषित-रत्न-मन्जुषा

बलवानप्यशक्तो ऽसौ धनवानपि निर्धनः।
श्रुतवानपि मूर्खश्च यो धर्म-विमुखोजनः।।१।।

अर्थ- जो व्यक्ति धर्म से विमुख रहता है वह बलवान् होने पर भी निर्बल, धनवान् होकर भी निर्धन, तथा विद्वान् होकर भी मूर्ख ही होता है।

इहैव नरकव्याधेश्चिकित्सां न करोति यः।
गत्वा निरौषध स्थानं स रोगी किं करिष्यति।।२।।

अर्थ- जो मनुष्य जीवन में रहकर नरक रूपी रोग की चिकित्सा नहीं करता है अर्थात् नरक से बचने का उपाय नहीं करता है वह परलोक (मरणोत्तर) में जाकर क्या करेगा, जहाँ चिकित्सा करना सम्भव ही नहीं है।

जरां मृत्युं भयं व्याधिं यो जानाति स पण्डितः।
स्वस्थस्तिष्ठेत् निषीदेद्वा स्वपेषु वा केनचिद्वसेत्।।३।।

अर्थ- जो व्यक्ति बुढ़ापा, मृत्यु, भय तथा रोग के कारण को जानता है वही संसार में पण्डित कहलाने का अधिकारी है। इसलिए संसार में रहकर सदा स्वस्थ रहे, निश्चिंत रहे, निश्चिंत हो के शयन करे और किसी के साथ हँस कर रहे।

तुल्य जातिवयो रूपान् हृतान् पश्यति मृत्युना।
न हि तमास्ति ते त्रासो वज्रवद् हृदयं तव।।४।।

अर्थ- अपने समान जाति वाले आयु वालों तथा रूप वालों की मृत्यु होते देख कर भी जिस व्यक्ति को भय नहीं होता है उसका चित्त वज्र के तुल्य कठोर होता है।

सज्जन-दुर्जन की निन्दा-स्तुति

सन्तस्तृणोत्सारण-मुत्तमांगात् सुवर्ण कोटयमर्पण -मामनन्ति।
प्राण व्ययेनापि कृतोपकाराः खलाः परे वैरमिवोद्वहन्ति।।५।।

अर्थ- जो सज्जन पुरूष हैं वे शिर से तृण मात्र उठाने के लिए इतने त्रृणी (कृतज्ञ) होते हैं मानो करोड़ रूपयों का ऋण ले लिया है किन्तु जो दुर्जन होते हैं वे प्राण देकर भी उपकार करने वालों के साथ शत्रुता करते हैं।

उपकारश्चापकारो यस्य व्रजति विस्मृतिम्।
पाषाण हृदयस्यास्य जीवतीत्यभिधा मुधा।।६।।

अर्थ- जो व्यक्ति दूसरों से उपकार तथा अपकार को भूल जाता है। वह पाषाण हृदय होता है उसका जीवित रहना ही व्यर्थ है।। (''भोजप्रबन्ध'' से)

व्याख्याता : स्वर्गीय पण्डित राजवीर शास्त्री

This document is created by GIRDAC PDF Creator Pro trial version
GIRDAC PDF Creator Pro full version does not add this green footer
Full version can be ordered from http://www.girdac.com/Products/Buy.htm

This document is created by GIRDAC PDF Creator Pro trial version
GIRDAC PDF Creator Pro full version does not add this green footer
Full version can be ordered from http://www.girdac.com/Products/Buy.htm